अथ षष्ठं काण्डम्

१. [प्रथमं सूक्तम्]

प्रथम सात सूक्तों का ऋषि अथर्वा है—स्थिर वृत्तिवाला (न थर्वति)। यह प्रार्थना करता है—

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री** ॥

स्तुहि देवं सवितारम्

दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेह्याथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम्॥ १॥

१. हे **आथर्वण**=स्थिरवृत्ति के साधक! **दोषो गाय**=रात्रि के समय उस प्रभु का गुणगान कर, **बृहद् गाय**=खूब ही गायन कर। **द्युमद् धेहि**=उस ज्योतिर्मय प्रभु को धारण कर। २. उस **देवम्**=प्रकाशमय, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु का, **सवितारम्**=उत्पादक व प्रेरक प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर।

भावार्थ—हम सविता देव का स्तवन करते हुए 'सविता व देव' बनने का प्रयत्न करें, उत्पादक व निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त व प्रकाशमय दिव्य गुणयुक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्** ॥

सत्यस्य सूनुः

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः सत्यस्य युवानम्। अद्रोघवाचं सुशेवम्॥ २॥

१. **तम् उ स्तुहि**=तू उस प्रभु का ही स्तवन कर **यः**=जो **अन्तः सिन्धौ**=गम्भीर हृदयदेश में या इस भवसागर में **सूनुः सत्यस्य**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं (षू प्रेरणे), **युवानम्**=बुराइयों को हमसे पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं। २. उस प्रभु का स्तवन कर जो **अद्रोघवाचम्**=द्रोहशून्य वाणीवाले हैं, **सुशेवम्**=उत्तम कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हे मनुष्य! तू हृदयदेश में सत्य की प्रेरणा देते हुए, बुराइयों से पृथक् करके कल्याण करनेवाले प्रभु का स्तवन कर।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्** ॥

उभे सुष्टुती सुगातवे

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे॥ ३॥

१. **सः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **घ**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **भूरि**=खूब ही **अमृतानि साविषत्**=अमृतत्वों को प्राप्त कराता है—हमें नीरोग जीवनवाला बनाता है। २. **उभे**=दोनों **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतियों के—प्रातः व सायंकालीन स्तुतियों के **सुगातवे**=उत्तम गायन के लिए प्रभु हमें नीरोगता प्रदान करते हैं। '**उभे सुष्टुती सुगातवे**' का यह अर्थ भी सुन्दर है कि दोनों उत्तम स्तुत्य मार्गों से चलने के लिए। हम 'अभ्युदय व निःश्रेयस', 'इहलोक व परलोक', 'शरीर व आत्मा', 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का ध्यान करते हुए जीवन में आगे बढ़ें।

भावार्थ—प्रभु हमें खूब ही नीरोग बनाते हैं, जिससे हम प्रातःसायं सम्यक् प्रभुस्तवन कर पाएँ। वस्तुतः प्रभुस्तवन ही नीरोगता का साधन हो जाता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

सोमं सुनोता च धावत

इन्द्रा॑य॒ सोम॑मृत्विजः सु॒नोता च॑ धावत।
स्तो॒तुर्यो वचः॑ शृ॒णव॒द्धव॑ं च मे॥ १॥

१. हे **ऋत्विजः**=(ऋतौ ऋतौ यजति) समय-समय पर—सदा प्रभु-पूजन करनेवाले उपासको! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोमशक्ति (वीर्य) को **सुनोत**=अपने में उत्पन्न करो **च**=और **धावत**=अपने जीवन को गतिमय व शुद्ध बनाओ। २. उस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का सवन करो **यः**=जो **स्तोतुः**=स्तुतिकर्त्ता के **वचः**=स्तुतिवचानों को **शृणवत्**=सुनता है, **च**=और **मे**=मुझ स्तोता की **हवम्**=पुकार व प्रार्थना को सुनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए शरीर में सोम का सम्पादन और गतिमयता द्वारा जीवन को शुद्ध बनाना आवश्यक है। प्रभु स्तोता के स्तुति-वचनों व पुकार को सुनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

रक्षस्विनीः मृधः विजहि

आ यं वि॒शन्तीन्द॑वो॒ वयो॒ न वृ॒क्षमन्ध॑सः।
विर॑प्शि॒न्वि मृधो॑ जहि रक्ष॒स्विनी॑ः॥ २॥

१. **वयः वृक्षं न**=जैसे पक्षी वृक्ष में (स्थित अपने घोंसलों में) प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार **यम्**=जिस व्यक्ति में **अन्धसः**=(अन्धः=अन्नं, आध्यायनीयं भवति—नि० ४/२) अन्न के—अन्न-भक्षण से उत्पन्न **इन्दवः**=सोमकण **आविशन्ति**=प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् जो सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने का यत्न करते हैं, हे **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! आप **रक्षस्विनीः मृधः**=उसके राक्षसी वृत्तिरूप शत्रुओं को **विजहि**=नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से उत्पन्न सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करें, प्रभु हमारे राक्षसी भावों को नष्ट करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

युवा, जेता, ईशान, पुरुष्टुत

सु॒नोता॑ सोम॒पाव्ने॑ सोम॒मिन्द्रा॑य व॒ज्रिणे॑। यु॒वा॒ जेतेशा॑न॒ः सं पु॑रुष्टु॒तः॥ ३॥

१. **सोमपाव्ने**=सोम का रक्षण करनेवाले **वज्रिणे**=वज्रहस्त—क्रियाशील (वज गतौ) **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं सुनोत**=सोम का अपने में सम्पादन करो। यह सोमरक्षण ही तुम्हें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएगा। २. वे प्रभु **युवा**=बुराइयों से अमिश्रण करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले हैं, **जेता**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, **ईशानः**=वे स्वामी हैं, **सः पुरुष्टुतः**=वे खूब ही स्तुति किये जाते हैं। उनका स्तवन हमारा पालन व पूरण करनेवाला है (पॄ पालनपूरणयोः)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम सोम का रक्षण करें। वे प्रभु 'युवा, जेता, ईशान व पुरुष्टुत' हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

इन्द्रापूषणा, विष्णुः उत द्यौः

पातं नं इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः।
अपां नपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः॥ १॥

१. **नः**=हमें **इन्द्रापूषणा पातम्**=इन्द्र और पूषा रक्षित करें। 'इन्द्र' जितेन्द्रिया का प्रतीक है और 'पूषा' का भाव है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण। हम जितेन्द्रिय बनकर सर्वाङ्ग सम्पुष्ट हों। **अदितिः मरुतः पान्तु**=अदिति और मरुत् हमारा रक्षण करें। 'अदिति' (अ-दिति) स्वास्थ्य की देवता है और 'मरुत्' प्राण हैं। हम प्राणसाधना करते हुए पूर्ण स्वस्थ होने का प्रयत्न करें। २. **अपां न पात्**=रेतःकणरूप जलों का न गिरने देनेवाला देव तथा **सप्त सिन्धवः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों से प्रवाहित होनेवाले सात ज्ञान-जलों के प्रवाह **पातन**=हमारा रक्षण करें। वीर्य-रक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करें। **नः**=हमें **विष्णुः**=व्यापकता का देव **उत**=और **द्यौः**=प्रकाश **पातु**=रक्षित करें। हमारा हृदय विशाल हो और मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त बने।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सब अङ्गों की पुष्टि प्राप्त करें। हमारा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क दीप्त।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

द्यावापृथिवी अग्निः

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः॥ २॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभिष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए **पाताम्**=रक्षित करें। अध्यात्म में ज्ञानसूर्य से दीप्त मस्तिष्क 'द्यौ' है तथा पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर 'पृथिवी' है। ये दोनों हमारे लिए इष्ट-साधक हों। **ग्रावा पातु**=उपदेष्टा आचार्य हमारा रक्षण करे। आचार्य से दिये गये निर्देश हमारा कल्याण करें। **सोमः**=शरीर में सुरक्षित सोम **नः**=हमें **अंहसः पातु**=(Trouble, anxiety, care) कष्ट व चिन्ता से रक्षित करें। २. **सुभगा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली देवी **सरस्वती**=प्रकाशमयी, सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली—विद्या की अधिष्ठात्री देवता **नः पातु**=हमें रक्षित करे। हम सरस्वती की आराधना करते हुए पाप आदि में प्रवृत्त न हों। अन्ततः वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पातु**=हमें रक्षित करे। ये **अस्य पायवः**=जो प्रभु के रक्षण हैं, वे **शिवा**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क ज्ञान-दीप्त और शरीर दृढ़ हो। उत्तम आचार्यों के निर्देश हमें प्राप्त हों। हम शरीर में सोम का रक्षण करें, सरस्वती की अराधना करें और प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शुभस्पती अश्विना

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत नं उरुष्यताम्।
अपां नपादभिहुती गयस्य चिद्देवं त्वष्टर्वर्धयं सर्वतातये॥ ३॥

१. **देवा**=काम-क्रोध आदि पर विजय पाने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्)

शुभस्पती=(water, आपः रेतो भूत्वा०) शरीर में रेतःकणों का रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान **नः पाताम्**=हमारा रक्षण करें। **उत**=और **उषासानक्ता**=दिन-रात **नः**=हमारा **उरुष्यताम्**=रक्षण करें। हम प्रातः-सायं प्राणसाधना करते हुए शरीर में शक्तियों का रक्षण करें और इसप्रकार अपना रक्षण करनेवाले बनें। २. हे **अपां नपात्**=(अप्=कर्म) कर्मों को नष्ट न होने देनेवाले **त्वष्टः देव**=निर्माता प्रकाशमय प्रभो! **गयस्य**=घर की **अभिह्रुतीचित्**=दुरवस्था से—कुटिल स्थिति से दूर करके हमें **सर्वतातये वर्धय**=सब प्रकार के विस्तार के लिए बढ़ाइए। हम शक्तियों व धन-धान्य का वर्धन करते हुए घर को उत्तम स्थिति में ले-आएँ।

भावार्थ—प्रातः-सायं प्राणापान की साधना द्वारा हम शरीर में रेतःकणों का रक्षण करें। घर को दुरवस्था से दूर करके फूला-फला, समृद्ध बनाने के लिए यत्नशील हों।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥

दैव्यं वचः दुष्टरं सहः

त्वष्टा॑ मे दैव्यं॒ वचः॒ पर्जन्यो॒ ब्रह्म॑णस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृ॑भिरदिति॒र्नु पा॑तु नो दुष्टरं॒ त्राय॑माणं॒ सहः॑॥ १॥

१. **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः) वह ज्ञानदीप्त, **पर्जन्यः**=परातृप्ति का जनयिता **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **दैव्यं वचः**=ज्योति देनेवाले ज्ञान-वचनों का **पातु**=रक्षण करें। प्रभुकृपा से मुझे ज्ञान प्राप्त हो। २. **अदितिः**=(अ-दिति) स्वास्थ की देवता **नु**=अब **पुत्रैः भ्रातृभिः**=हमारे सन्तानों व भाइयों के साथ **नः**=हमारे लिए **दुष्टरम्**=शत्रुओं से न तैरने योग्य **त्रायमाणम्**=रक्षा करनेवाले **सहः**=बल को (पातु) रक्षित करें।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँ और यह अदिति हमें शत्रुओं से असह्य तेज प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः**॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः**॥

अंशः मरुतः

अंशो॒ भगो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मादि॑ति॒ः पान्तु॒ म॒रुत॑ः।
अप॒ तस्य॒ द्वेषो॑ गमेद॒भिह्रु॑तो॑ याव॒य॒च्छत्रु॒मन्ति॑तम्॥ २॥

१. **अंशः**=विभाग की देवता (विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः), **भगः**=ऐश्वर्य, **वरुणः**=निर्द्वेषता, **मित्रः**=सबके प्रति स्नेह, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) संयम, **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता, **मरुतः**=प्राण—ये सब **पान्तु**=मेरा रक्षण करें। मैं बाँटकर खानेवाला बनूँ, ऐश्वर्य का अर्जन करूँ, निर्द्वेषता, स्नेह, संयम व स्वास्थ्य को प्राप्त करूँ। प्राणसाधना को महत्त्व दूँ। २. **तस्य**=उस **अभिह्रुतः**=कुटिल पुरुष का **द्वेषः**=द्वेष **अपगमेत्**=हमसे दूर हो। इस **अन्तितम्**=(अति बन्धने) बुरी भाँति जकड़ लेनेवाले **शत्रुम्**=शत्रु को **यावय**=हम दूर भगा दें।

भावार्थ—हम बाँटकर खाने की वृत्तिवाले बनें, प्राणसाधना में चलें, कुटिल पुरुष के द्वेष से बचें और बन्धनकारी शत्रु को दूर भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री**॥

द्यौष्पिता

धि॒ये सम॑श्विना॒ प्राव॑तं॒ न उरु॒ष्या ण॑ उरुज्म॒न्नप्र॑युच्छन्। द्यौ॒३॒॑ष्पि॒तर्या॒वय॑ दु॒च्छुना॒ या॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **धिये**=बुद्धि के लिए **नः**=हमें **संप्रावतम्**=सम्यक् रक्षित कीजिए। हे **उरुज्मन्**=विशाल गतिवाले प्रभो! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **नः उरुष्य**=हमारा रक्षण कीजिए। हे **द्यौष्पितः**=प्रकाशमय स्वरूप में निवास करनेवाले (द्यौः) रक्षक (पितः) प्रभो! **या**=जो भी **दुच्छुना**=दुर्गति है, उसे **यावय**=हमसे पृथक् कीजिए।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम बुद्धि प्राप्त करें, गतिशील बनकर अपना रक्षण करनेवाले हों और ज्ञानी बनकर दुर्गति से दूर हों।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निहोत्र

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्निहोत्र की अग्ने! **घृतने आहुत**=घृत से आहुत हुआ-हुआ तू **उत्**=ऊपर उठ—खूब प्रज्वलित हो। **एनम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **उत्तरं नय**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करा—नीरोग बना। **एनम्**=इसे **वर्चसा**=वर्चस् (Vitality) से **संसृज**=संसृष्ट कर **च**=और **प्रजया बहुं कृधि**=प्रजा से बहुत कर—फूले-फले परिवारवाला बना।

भावार्थ—मनुष्य अग्निहोत्र से 'नीरोगता, वर्चस् व उत्तम सन्तानों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

जीवातवे जरसे (नय)

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद्वशी। रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय॥ २॥

१. हे **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **इमम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **प्रतरं कृधि**=अधिक उत्कृष्ट बनाइए—इसे भवसागर से तर जानेवाला बनाइए। यह **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का **वशी असत्**=वश में करनेवाला हो अथवा 'सजात' काम-क्रोध आदि भाव हैं—'**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**'। यह इनका वशीभूत करनेवाला होता है। हे इन्द्र! आप इस पुरुष को **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए तथा **जीवातवे**=दीर्घजीवन के लिए और **जरसे**=पूर्ण वृद्धावस्था के लिए अथवा स्तुति के लिए **नय**=ले-चलिए।

भावार्थ—इन्द्र के अनुग्रह से हम उत्कृष्ट जीवनवाले, सजातों को वश में करनेवाले और धन से युक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञ और समृद्धि

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ३॥

१. **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कृण्मः**=यज्ञ करते हैं, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तम्**=उसे **त्वम्**=आप **वर्धय**=बढ़ाइए। यज्ञ से सब ऐश्वर्यों का वर्धन होता ही है। २. **तस्मै**=उस यज्ञशील पुरुष के लिए **सोमः**=यह शान्तस्वभाव का आचार्य **अधिब्रवत्**=आधिक्येन ज्ञान देनेवाला हो, **च**=और **अयम्**=यह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु उसे ज्ञान दे।

भावार्थ—यज्ञ समृद्धि का साधन है। इस यज्ञशील को शान्तस्वभाव के आचार्य ज्ञान देते हैं, प्रभु भी इसके ज्ञान के वर्धक होते हैं।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यजमानाय सुन्वते

यो ३स्मान्ब्रह्मणस्पतेऽ देवो अभिमन्यते। सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यः**=जो **अदेवः**=अदेववृत्ति का पुरुष—अयज्ञशील पुरुष **अस्मान् अभिमन्यते**=हमें नीचे करने की इच्छा करता है, **तं सर्वम्**=उन सब शत्रुओं को **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले **मे**=मेरे लिए **रन्धयासि**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम यज्ञशील व सोम का रक्षण करनेवाले हों। हम अदेववृत्ति के व्यक्तियों के वशीभूत न हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुःसंश के शासन से बाहर

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः दुःशंसः**=जो दुष्ट शंसनवाला पुरुष **सुशंसिनः**=उत्तम **शंसन**=(स्तवन) करनेवाले **नः**=हमें **आदिदेशति**=अपने आदेश में चलाता है—हमपर शासन करना चाहता है, **अस्य मुखे**=इसके मुख पर **वज्रणे जहि**=वज्र से प्रहार कीजिए। **सः**=वह **संपिष्टः**=वज्रप्रहार से चूर्णित हुआ-हुआ **अपायति**=यहाँ से दूर हो जाए।

भावार्थ—हे प्रभो! हमपर दुःशंस पुरुष का शासन न हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बाहर

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्ध त्मना ॥ ३ ॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः**=जो **सनाभिः**=सजातीय **च**=और **यः निष्टयः**=नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य **नः**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है, **तस्य**=उसके **बलम्**=बल को **वध त्मना अपतिर**=अपने वध-साधन वज्र से नष्ट कर। २. उसी प्रकार इसके बल को नष्ट कर **इव**=जैसे **महीः द्यौः**=महान् प्रकाशमान सूर्य अन्धकार को दूर करता है।

भावार्थ—अपना वा पराया जो भी हमें उपक्षीण करना चाहता है, प्रभु वज्र द्वारा उसके बल को ऐसे समाप्त कर दें, जैसेकि महान् सूर्य अन्धकार को समाप्त कर देता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥

अदितिः, अद्रुहः, मित्राः

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः। तेना नोऽ वसा गहि ॥ १ ॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **येन पथा**=जिस मार्ग से **अदितिः**=अदीना देवमाता **वा**=अथवा **अद्रुहः**=द्रोह न करनेवाले **मित्राः**=आदित्य देव **यन्ति**=गति करते हैं, **तेन**=उसी मार्ग से **नः**=हमें **अवसा**=रक्षण के साथ **आगहि**=प्राप्त होओ। २. **अदितिः**—अदीना देवमाता=स्वास्थ्य की देवता है। स्वस्थ होने पर ही दिव्य गुणों का विकास होता है। '**मित्राः**'—आदित्यों का नाम है—ये जीवन देते हैं, किसी का जीवन छीनते नहीं। हमारे जीवन का मार्ग भी यही होना चाहिए।

भावार्थ—हम स्वस्थ व स्नेही बनकर प्रभु-रक्षा के पात्र बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

साहन्त्य सोम

येन॑ सोम साह॒न्त्यासु॑रान्॒न्धयां॑सि नः। तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत॥ २॥

१. हे **साहन्त्य सोम**=विजयी शक्ति से युक्त सोम—शत्रुओं का पराभव करनेवाले शान्त प्रभो! **येन**=जिस शक्ति से आप **नः असुरान् रन्धयासि**=हमारे आसुरभावों को नष्ट करते हैं, **तेन**=उस शक्ति के साथ **नः**=हमारे लिए **अधिवोचत**=आधिक्येन ज्ञान का उपदेश कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति और ज्ञान दें, जिससे हम शत्रुओं का पराभव कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

असुर ओज-निवारण

येन॑ देवा॒ असु॑राणा॒मोजां॑स्यवृ॑णीध्वम्। तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत॥ ३॥

१. हे **देवाः**=शत्रु-विजय की कामनावाले साधको। **येन**=जिस मार्ग से तुमने **असुराणां ओजांसि**=असुरों के बलों को—आसुरभावों की प्रचण्ड शक्ति को **अवृणीध्वम्**=रोका है—निवारण किया है **तेन**=उसी मार्ग से **नः**=हमारे लिए **शर्म यच्छत**=कल्याण व सुख प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम देवों के मार्ग पर चलते हुए आसुरभावों की शक्ति को रोकें और सुख प्राप्त करें।

विशेष—अगले दो सूक्तों का ऋषि जमदग्नि है। '**चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः** (श० ८.१.३.३) चक्षु ही जमदग्नि है। चक्षु से संसार को ठीक रूप में देखकर उसका मनन करता है। ऐसा ही व्यक्ति सद्गृहस्थ बनता है। वह पत्नी से कहता है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**कामात्मा**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

पति-पत्नी का प्रेम

यथा॑ वृ॒क्षं लिबु॑जा सम॒न्तं प॑रिषस्व॒जे।
ए॒वा परि॑ ष्वजस्व॒ मां यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॥ १॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **लिबुजा**=बेल **वृक्षम्**=आश्रयभूतवृक्ष को **समन्तं परिषस्वजे**=चारों ओर से लिपट जाती है, **एव**=इसीप्रकार तू **मां परिष्वजस्व**=मेरा आलिङ्गन कर। २. तेरी सारी वृत्ति इसप्रकार की हो **यथा**=जिससे तू **माम्**=मुझे **कामिनी असः**=चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे तू **मत्**=मुझसे **अप-गाः**=दूर जानेवाली **न असः**=न हो।

भावार्थ—पत्नी लता के समान हो तो पुरुष उसके आश्रयभूतवृक्ष के समान। पत्नी पति को ही चाहे, उससे दूर होने का विचार भी न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**कामात्मा**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

पक्षी भूमि पर, पत्नी पति पर

यथा॑ सु॒प॒र्णः प्रप॑तन्प॒क्षौ नि॒ह॒न्ति॒ भूम्या॑म्।
ए॒वा नि ह॑न्मि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **सुपर्णः**=पक्षी **प्रपतन्**=उड़ता हुआ **भूम्यां पक्षौ निहन्ति**=भूमि पर पङ्खों को

जमा देता है, **एव**=उसी प्रकार **ते मनः**=तेरे मन को **निहन्मि**=मैं जमा देता हूँ। २. मैं तेरे मन को अपने में ऐसे निश्चल करता हूँ, **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **अप-गाः**=दूर जानेवाली **न असः**=न हो।

भावार्थ—उड़ता हुआ पक्षी अन्ततः अपने पाँवों को भूमि पर जमा देता है, इसीप्रकार सब व्यवहारों को करती हुई पत्नी पति को ही अपना आधार बनाए।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति प्रेम से पत्नी को व्याप्त कर ले

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **इमे द्यावापृथिवी**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक को **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येति**=अपने प्रकाश से व्याप लेता है, **एव**=इसीप्रकार **ते मनः**=तेरे मन को मैं **पर्येमि**=प्रेम आदि से व्याप्त कर लेता हूँ। २. मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे ही चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **न अप-गाः असः**=दूर जानेवाली न हो।

भावार्थ—पति प्रेम से पत्नी के मन को व्याप्त करने का प्रयत्न करे। पत्नी अपने मन में पति से दूर होने का विचार भी न आने दे।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेम व सौन्दर्य

वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु॥ १॥

१. **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को तू **वाञ्छ**=चाह—तुझे मेरा शरीर प्रिय लगे। **पादौ अक्ष्यौ वाञ्छ**=मेरे पाँव व नेत्र तुझे अच्छे लगें। **सक्थ्यौ वाञ्छ**=मेरी जंघाओं की तू इच्छा कर—वे तुझे प्रिय हों। पत्नी का पति के प्रति प्रेम होने से उसे पति के सब अङ्ग सुन्दर प्रतीत होते हैं। प्रेम सौन्दर्य पैदा कर देता है। २. पति कहता कि **माम्**=मुझे भी **वृषण्यन्त्याः**=मेरी कामना करनेवाली तेरी **अक्ष्यौ**=आँखें तथा **केशाः**=बाल **ते कामेन**=तेरे प्रति कामना से **शुष्यन्तु**=सुखाया करें, अर्थात् मैं भी तेरे बिना प्रीति का अनुभव न करूँ।

भावार्थ—पति-प्रेम के कारण पत्नी को पति के सब अङ्ग प्रिय लगें और पति भी पत्नी के वियोग में प्रीति का अनुभव न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दोषणिश्रिषं हृदयश्रिषम्

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

१. हे पत्नि! मैं **त्वा**=तुझे **मम दोषणिश्रिषम्**=मेरी भुजा पर आलिङ्गन करनेवाली **कृणोमि**=करता हूँ और **हृदयश्रिषम्**=हृदय में आश्रय करनेवाली करता हूँ। मेरी भुजाएँ तेरा आश्रय हों, मेरे हृदय में तू बसी हो। २. मैं इसप्रकार प्रेम से तुझे आकृष्ट करता हूँ **यथा**=जिससे तू **मम क्रतौ असः**=मेरे कर्मों व संकल्पों में होती है। तू मेरे लिए ही कर्मों को कर मैं भी

तेरे संकल्पों का विषय बनूँ। मम **चित्तम् उपायसि**=तू मेरे चित्त के अनुकूल चलनेवाली हो।

भावार्थ—पति अपने प्रेम से पत्नी को जीतने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**कामात्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नाभिः आरेहणं हृदि संवननम्

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम्।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे॥ ३॥

१. **यासाम्**=जिनका **नाभिः**=(णह बन्धने) बन्धन भी **आरेहणम्**=आनन्द देनेवाला है, जिसके **हृदि**=हृदय में **संवननम्**=प्रेम की सेवा—संभजन **कृतम्**=उत्पन्न की गई है, **अमूम्**=उसे ये **घृतस्य मातरः**=ज्ञानदीप्ति का निर्माण करनेवाली **गावः**=वेदवाणियाँ **मे संवानयन्तु**=मेरे लिए संभक्त करनेवाली हों अथवा घृत का निर्माण करनेवाली ये गौएँ इसे मेरे प्रति प्रीतिवाला बनाएँ। 'ज्ञान की वाणियों में व गौओं की सेवा में लगे रहना' पत्नी को पति के प्रति प्रेमवाला बनाता है।

भावार्थ—पत्नी का सम्बन्ध आनन्द का जनक है। इनके हृदय में सेवा का भाव होता है। यदि ये ज्ञान की वाणियों व गौओं की सेवा में लगी रहें तो पति-प्रेम में न्यूनता नहीं आती।

विशेष—पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम घर में शान्ति का विस्तार करता है, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'शन्ताति' है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**अग्निः** छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्**॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक

पृ॒थि॒व्यै श्रोत्रा॑य॒ व॒न॒स्पति॑भ्यो॒ऽग्नयेऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑॥ १॥
प्रा॒णाया॒न्तरि॑क्षाय॒ वयो॑भ्यो वा॒यवेऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑॥ २॥
दि॒वे चक्षु॑षे॒ नक्ष॑त्रेभ्यः॒ सूर्या॒याधि॑पतये॒ स्वाहा॑॥ ३॥

१. मैं **पृथिव्यै**=इस पृथिवी के लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। भूमि को माता मानता हुआ उसकी गोद में बैठता हूँ। यहाँ **श्रोत्राय**=वाणी द्वारा उच्चरित ज्ञान के श्रवण के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। ज्ञान की बातों को सुनना ही मेरा मुख्य कार्य होता है। यहाँ **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ—वानस्पतिक पदार्थों को ही खाता हूँ और उनके द्वारा शरीर में उत्पन्न **अग्नये**=अग्नितत्त्व के लिए अपना अर्पण करता हूँ। यह अग्नितत्त्व ही तो **अधिपतये**=इस पृथिवी का अधिपति है। शरीर का मुख्य रक्षक यह अग्नितत्त्व ही है।

२. **अन्तरिक्षाय**=मैं हृदयान्तरिक्ष के लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। इस हृदयान्तरिक्ष में मुख्यरूप से अपना कार्य करनेवाले **प्राणाय**=प्राण के लिए अपना अर्पण करता हूँ—प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। **वयोभ्यः**=इन प्राणों को पक्षी-तुल्य जानता हुआ इन पक्षियों के लिए अपना अर्पण करता हूँ। मैं यह भूलता नहीं कि 'पक्षियों की भाँति ये प्राण न जाने कब उड़ जाएँ'। इस हृदयान्तरिक्ष के **वायवे अधिपतेय**=अधिपति वायु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। जहाँ तक सम्भव होता है शुद्ध वायु मैं ही सञ्चार करता हूँ।

३. **दिवे**=द्युलोक के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। मस्तिष्क ही द्युलोक है। इस

मस्तिष्करूप द्युलोक में चक्षु ही सूर्य है, उस **चक्षुषे**=चक्षु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। चक्षु से देखकर ही मार्ग में चलता हूँ—'**दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्।**' **नक्षत्रेभ्यः**=नक्षत्रों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ, **सूर्याय अधिपतेय**=अधिपति सूर्य के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। मैं अपने द्युलोकरूप मस्तिष्क में विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य को उदित करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने इस पृथिवीरूप शरीर में निवास को उत्तम बनाएँ, ज्ञान का श्रवण करें, वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करें, शरीर में उचित अग्नितत्त्व को उत्पन्न करें। हृदयान्तरक्षि में प्राणों की आराधना करें—इन्हें 'पक्षियों की भाँति उड़ जानेवाला' जानें, शुद्ध वायु में प्राण-साधना करें। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्रों को उदित करने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ उत्तम सन्तान का निर्माता 'प्रजापति' अगले सूक्त का ऋषि है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शमी+अश्वत्थ

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

१. **शमीम्**=शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री पर **अश्वत्थः**=अश्व के समान शीघ्रगामी तथा दृढ़ाङ्गरूप से स्थिर (स्थ) पुरुष **आरूढः**=आरुढ़ होता है, अर्थात् शमी स्त्री में यह अश्वत्थ पुरुष गर्भाधान करता है, **तत्र**=वहाँ **पुंसुवनम्**=वीर सन्तान का उत्पादन **कृतम्**=किया जाता है, **तत्**=उस पुत्रजनक वीर्य को **स्त्रीषु**=स्त्रियों में **आभरामसि**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—स्त्री 'शमी' हो—शान्त स्वभाव की, पुरुष 'अश्वत्थ' हो—क्रियाशील व दृढ़ाङ्ग। ऐसा होने पर वीर सन्तान उत्पन्न होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेतः सेचन

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

१. **पुंसि वै**=पुमान् में निश्चय से **रेतः भवति**=रेतस् (वीर्य) होता है, **तत्**=वह वीर्य **स्त्रियाम्**=स्त्री में **अनुसिच्यते**=सींचा जाता है। २. **तत् वै**=वह वीर्य-सचेन ही निश्चय से **पुत्रस्य वेदनम्**=पुत्र-प्राप्ति का साधन है। **तत् प्रजापतिः अब्रवीत्**=यह बात प्रजापति ने कही है।

भावार्थ—पुमान् का स्त्री में वीर्य-सेचन होने पर वीर सन्तान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजापतिः, अनुमतिः, सिनीवाली

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षण करनेवाली, **अनुमतिः**=पति के अनुकूल मति-(विचार)-वाली, **सिनीवाली**=प्रशस्त अन्नों का सेवन करनेवाली स्त्री **अचीक्लृपत्**=समर्थ होती है—उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली होती है। २. यह **स्त्रैषूयम्**=स्त्री-सन्तान को जन्म देने को **अन्यत्र**=और स्थानों पर रखती हुई **उ**=निश्चय से **इह**=यहाँ **पुमांसं दधत्**=वीर नर-सन्तान को ही जन्म देती है। इस 'प्रजापति, अनुमति, सिनीवाली' की कोख से वीर नर-सन्तान जन्म लेते हैं।

भावार्थ—स्त्री में प्रजा-रक्षण की प्रबल भावना हो, वह पति के साथ अनुकूल बुद्धिवाली हो तथा प्रशस्त अन्नों का सेवन करती हो तो वह प्रायः नर-सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अगले सूक्त में सर्प-विष-निवारण का प्रकरण है। गरुड़ सर्प का विनाश करता है। इस सर्प-विनाशक व्यक्ति का नाम श्री 'गरुत्मान्' (गरुड़) रक्खा गया है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अहीनां जनिं पर्यागमन्

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यब्द्रंसात्तेना ते वारये विषम्॥ १॥

१. **इव**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **द्याम्**=द्युलोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मैं **अहीनाम्**=सर्पों के **जनिम्**=जन्मवृत्त को **परिआगमम्**=सम्यक् जानता हूँ। २. **इव**=जैसे **रात्री**=प्रलयकाल की रात्रि **जगत्**=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लेती है, परन्तु **हंसात् अन्यत्**=उस परब्रह्म से भिन्न जगत् को ही व्याप्त करती है, इसीप्रकार यह विष भी सारे शरीर को व्याप्त कर ले तो कर ले, परन्तु आत्मतत्त्व पर उसका प्रभाव नहीं होता, अर्थात् चेतना को यह समाप्त नहीं कर सकता। **तेन**=उस चेतना को स्थिर रखने के द्वारा ही मैं **ते विषं वारये**=तेरे विष को दूर करता हूँ, अर्थात् इस सर्पदष्ट पुरुष को मैं निद्राभिभूत न होने देकर इस विषप्रभाव को समाप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वैद्य को सर्पों के प्रादुर्भाव का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। वह सर्पदष्ट की चेतना को स्थिर रखता हुआ सर्पविष को दूर करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मभिः ऋषिभिः देवैः

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा। यद्भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **ब्रह्मभिः**=वेदज्ञों ने, (वृहि वृद्धौ) शरीर की वृद्धि करनेवालों ने, **यत् ऋषिभिः**=जो तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने, (ऋष=to kill) विष के प्रभाव को नष्ट करनेवालों ने और **यत्**=जो ज्ञान **देवैः**=रोगों को जीतने की कामनावाले (विजिगीषा) पुरुषों ने **पुरा विदितम्**=पहले जाना है, **तेन**=उस ज्ञान के द्वारा हे **आसन्वत्**=मुख से काटनेवाले सर्प! **यत्**=जो **ते**=तेरा **भूतम्**=शरीर में व्याप्त हो चुका है और जो **भव्यम्**=शरीर में व्याप्त होनेवाला है, उस सब **विषम्**=विष को **वारये**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—विष-प्रभाव को दूर करके शरीर का वर्धन करनेवाले 'वृहि वृद्धौ'। विष प्रभाव को नष्ट करनेवाले व सर्प को ही नष्ट कर देनेवाले 'ऋषि' हैं (ऋष=to kill)। विष-प्रभाव आदि विकारों को जीतने की कामनावाले 'देव' हैं (दिव् विजिगीषायाम्)। इन सबसे प्राप्त ज्ञान के द्वारा मैं (वैद्य) तेरे विष को दूर करता हूँ।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परुष्णी, शीपाला

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु। मधु परुष्णी शीपाला शमास्त्वे अस्तु शं हृदे॥ ३॥

१. वैद्य सर्प-दष्ट पुरुष से कहता है कि मैं तुझे **मध्वा पृञ्चे**=मधु से—ओषधियों के सार

से संपृक्त करता हूँ। **नद्यः पर्वताः गिरयः**=नदियाँ, पर्वत व मेघ (गिरयः=मेघ—नि० १.१०) ये सब **मधु**=मधु हैं। इनमें सर्पविषों को दूर करने की ओषधियाँ हैं। २. **परुष्णी**=यह पालन और पूरण करनेवाली **शीपाला**=नींद से बचानेवाली ओषधि **मधु**=तेरे लिए मधु हो। तेरे **आस्ने**=मुख के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो, **शम् हृदे**=हृदय के लिए शान्ति हो।

भावार्थ—सर्पविष-निवारण के लिए नदियों के किनारे, पर्वतों व मेघवृष्टिवाले स्थलों पर ओषधियाँ उपलभ्य हैं। इन ओषधियों का सार सर्पविषों को दूर करता है। विशेषतः 'परुष्णी' नामक ओषधि निद्रा में न जाने देती हुई सर्पदष्ट को विष-प्रभाव से मुक्त करती है।

विशेष—जैसे सर्पविष से मृत्यु की आशंका है, इसीप्रकार अन्य भी जितनी मृत्युएँ हैं, उनसे बचने की कामनावाला (स्वस्त्ययनकामः) 'अथर्वा' आत्म-निरीक्षण करता हुआ (अथ अर्वाङ्) दोषों को दूर करके मृत्यु को दूर करता हुआ व्यक्ति अगले सूक्त का ऋषि है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देववध, राजवध, विश्यवध

नमो॑ देवव॒धेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑।
अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽ स्तु ते॥ १॥

१. **देववधेभ्यः**=देवों (ब्राह्मणों) के शस्त्रों को **नमः**=नमस्कार हो, **राजवधेभ्यः**=क्षत्रियों के शस्त्रों को **नमः**=नमस्कार हो **अथ+उ**=और **ये**=जो **विश्यानाम्**=प्रजाओं के **वधाः**=शस्त्र हैं **तेभ्यः नमः**=उनके लिए भी नमस्कार हो। हे **मृत्यो**=मृत्यो! ते **नमः अस्तु**=हम तेरे लिए भी नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हम 'ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों के वधों' से अपने को बचा पाएँ। हम अकाल मृत्यु के शिकार न हो जाएँ। जिन कारणों से हम 'देवों, राजाओं अथवा प्रजाओं' के वध्य हो जाते हैं, उन सब कारणों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अधिवाक, परावाक, सुमति, दुर्मति

नम॑स्ते अधिव॒ाकाय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑।
सु॒म॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दुर्म॒त्यै त॑ इ॒दं नमः॑॥ २॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यो! **ते**=तेरे कारणभूत **अधिवाकाय**=अनुकूल वचन के लिए हम **नमः**=नमन करते हैं। अनुकूल वचनों का अतिरेक होने से अविवेक उत्पन्न होकर मृत्यु होती है, अतः इनसे बचना ही ठीक है, **ते**=तेरे कारणभूत **परावाकाय**=प्रतिकूल वचनों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। प्रतिकूल वचनों से निराशा होकर मृत्यु होती है। २. हे मृत्यो! **ते**=तेरी कारणभूत **सुमत्यै**=सुमति के लिए भी **नमः**=नमस्कार हो। केवल सुमति हमें शरीर के प्रति उदासीन करके मृत्यु की ओर ले-जाती है और **ते**=तेरी कारणभूत **दुर्मत्यै**=दुर्मति के लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार हो। दुर्मति तो सदा मृत्यु का कारण बनती ही है।

भावार्थ—हर समय अनुकूल वचनों को ही सुननेवाला अविवेकवश मृत्यु का शिकार हो जाता है। प्रतिक्षण प्रतिकूल वचनों का श्रवण हमें निराश करके मार डालता है। सुमति में हम बौद्धिक कार्यों की ओर ही झुककर शरीर का ध्यान नहीं करते और दुर्मति तो सतत विनाश का कारण है ही।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यातुधानों का भेषज

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः॥ ३॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यो! **ते**=तेरे **यातुधानेभ्यः**=पीड़ा देनेवाले रोगों के लिए **नमः**=नमस्कार हो—ये हमें दूर से ही छोड़ जाएँ। इसी उद्देश्य से **ते**=तेरे दूर करने के लिए साधनभूत **भेषजेभ्यः**=औषधों के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं—इन औषधों का उचित प्रयोग करते हुए हम तुझसे अपनी रक्षा करते हैं। २. हे मृत्यो! **ते मूलेभ्यः**=तेरे मूलकारणों के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं—इन्हें दूर से ही छोड़ते हैं और इन मूलकारणों के ज्ञान के लिए ही **ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः**=ब्राह्मणों के लिए हम यह नमस्कार करते हैं। उनका आदर करते हुए तेरे कारणों को जानकर उन्हें दूर करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—मृत्यु के कारणभूत रोगों का औषध करके हम मृत्यु को दूर करें। ज्ञानियों से मृत्यु के मूलकारणों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें दूर करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

विशेष—रोगों को दूर करके अपना धारण करनेवाला बभ्रु=तेजस्वी वर्णवाला पिङ्गल पुरुष 'बभ्रुपिङ्गल' अगले सूक्त का ऋषि है।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः**॥ देवता—**बलासः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हृदयामयम्, बलासम्

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु॥ १॥

१. **अस्थिस्रंसम्**=हड्डियों को गला देनेवाले **परुस्रंसम्**=जोड़ों को ढीला कर देनेवाले **आस्थितम्**=स्थिर हो जाने—जम जानेवाले **हृदयामयम्**=हृदय-रोग को **नाशय**=नष्ट कर दो। २. **सर्वं बलासम्**=सब बल को गिरा देनेवाले क्षय रोग को, **अङ्गेष्ठाः**=जो अङ्गों में बैठ गया **याः च**=जो **पर्वसु**=जोड़ों में बैठ गया है—उस सबको नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—वैद्य औषध-प्रयोग द्वारा हृदय तथा क्षय-रोग को नष्ट करे।

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः**॥ देवता—**बलासः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मुष्करं यथा, उर्वावा मूलम् इव

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वावाइव॥ २॥

१. **बलासिनः**=क्षयरोगी से **बलासम्**=क्षयरोग को इसप्रकार **निःक्षिणोमि**=दूर करता हूँ **यथा**=जैसेकि **मुष्करम्**=चोरी करनेवाले को दूर किया जाता है। २. **अस्य**=इसके **बन्धनं छिनद्मि**=बन्धन को ऐसे काट डालता हूँ **इव**=जैसेकि **उर्वावाः मूलम्**=ककड़ी की जड़ को काट देते हैं।

भावार्थ—क्षय-रोग चोर के समान हमारी शक्ति को चुरा लेता है। इसका तो नाश करना ही ठीक है। ककड़ी की जड़ की भाँति इसे काट डालना आवश्यक है।

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आशुङ्गः शिशुको यथा, हायनः इटः इव

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा।
अथो इटइव हायनोऽप द्राह्यवीरहा॥ ३॥

१. हे **बलासः**=क्षयरोग! तू **इतः निः प्रपत**=यहाँ से ऐसे हट जा **यथा**=जैसे कोई **आशुङ्गः**=शीघ्र गतिवाला **शिशुकः**=हिरनौटा (हिरन-शिशु) भाग खड़ा होता है। २. **अथो**=और **हायनः इटः इव**=वार्षिक घास की भाँति—जैसे प्रतिवर्ष उग आनेवाली घास चली जाती है, उसी प्रकार तू **अपद्राहि**=दूर भाग जा। **अवीरहा**=तू हमारे वीरों को नष्ट करनेवाला न हो।

भावार्थ—क्षयरोग इसप्रकार दूर भाग जाए, जैसे एक शीघ्रगामी हिरनौटा भाग जाता है। वार्षिक घास की भाँति यह हमसे दूर हो जाए। यह हमारे वीरों को मारनेवाला न हो।

विशेष—रोगों का उत्कर्षेण विदारण करनेवाला यह 'उद्दालक' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभिदास का उपस्ति बन जाना

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **ओषधीनाम्**=दोषदाहक ओषधियों में **उत्तमः असि**=सर्वोत्तम हैं। **वृक्षाः**=दोष-छेदन की कामनावाले (वृश्चनात्) सब जीव **तव उपस्तयः**=तेरे उपासक हैं। २. **यः**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारा उपक्षय करता है, **सः**=वह **अस्माकम् उपस्तिः अस्तु**=हमारा अनुगामी बन जाए। आपकी कृपा से मेरे जीवन में 'काम' प्रेम बन जाए, 'क्रोध' करुणा के रूप में हो जाए और 'लोभ' का स्थान त्याग ले-ले।

भावार्थ—प्रभु सब भवरोगों की सर्वोत्तम ओषधि हैं। दोष-छेदन की कामनावाले पुरुष प्रभु का ही उपासन करते हैं। इस उपासना से काम, क्रोध व लोभ का स्थान, प्रेम, करुणा व त्याग को मिल जाता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सबन्धुश्च, असबन्धुश्च

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ २॥

१. **सबन्धुः च**=समान बन्धुत्ववाला **च असबन्धुः**=अथवा बन्धुत्वरहित **यः**=जो कोई भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है, **वृक्षाणाम्**=दोष-छेदक उपासकों में **सा इव**=जैसे ब्रह्मौषधि सर्वोत्तम है, उसी प्रकार **तेषाम्**=उनमें **अहम्**=मैं **उत्तमः भूयासम्**=उत्तम होऊँ। किसी भी बन्धु व अबन्धु का मैं शिकार न हो जाऊँ।

भावार्थ=ब्रह्मौषधि का सेवन करता हुआ मैं किसी भी शत्रु का शिकार न बनूँ और उत्तम बना रहूँ।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमः, तलाशः

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

१. **यथा**=जैसे **ओषधीनाम्**=ओषधियों में **सोमः उत्तमः**=सोम उत्तम है और जैसे यह सोम **हविषाम्**=हव्य पदार्थों में **उत्तमः कृतः**=किया गया है, **इव**=जैसे **वृक्षाणां तलाशा**=वृक्षों में तलाश (पलाश=ढाक) वृक्ष उत्तम है (तलं अश्नुते), इसीप्रकार **अहम्**=मैं उत्तमः **भूयासम्**=अपने कुल में उत्तम बनूँ।

भावार्थ—मैं अपने कुल में ऐसे उत्तम बनूँ जैसेकि ओषधियों में सोम और वृक्षों में पलाश।

विशेष—ओषधिरस का पान करनेवाला (ब्रह्मौषधि का उपासक) अपने जीवन को सुखी बनानेवाला 'शौनक' कहलाता है (शुनं सुखम्)। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृद्गायत्री** ॥

करम्भ

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो। आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥

१. **आबयो**=(वी गतौ) हे समन्तात् गतिवाले—सर्वत्र गये हुए, **अनाबयो**=गतिशून्य, सर्वव्यापक होने के कारण सदा, सर्वत्र स्थिर (तदेजति तन्नैजति), **आबयो**=हे समन्तात् कान्तिवाले (वी कान्तौ) प्रभो! **ते रसः उग्रः**=आप का आनन्द अत्यन्त तेजस्वी व प्रबल है। यही वस्तुतः सब रोगों का विनाशक है। २. **ते**=आपके **क-रम्भम्**=आनन्द के (रम्भ-लम्भ-ज्ञान) ज्ञानरस का हम **आ अद्मसि**=अदन—ग्रहण करते हैं। आपकी उपासना करते हुए आपके आनन्दरस का उपभोग करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र गतिवाले होते हुए भी स्थाणु व अचल हैं—उसकी कान्ति का प्रसार सर्वत्र है। उसकी उपासना करते हुए हम उसके आनन्दरस का पान करते हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विहल्ह, मदावती (पिता, माता)

विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **ते पिता**=आपका रक्षणात्मक रूप (पा रक्षणे)—आपका पितृत्व **विहल्हः नाम**=निश्चय से सर्वत्र गतिवाला—सर्वव्यापक है। **ते माता**=आपकी प्रकृतिरूप निर्माणशक्ति **मदावती**=मदावली है—आनन्द देनेवाली है। २. हे **हिन**=प्रेरक प्रभो! (हिनोति) **त्वम्**=आप **सः असि**=वे हैं **यः**=जो **त्वम्**=आप **आत्मानम्**=अपने को **आबयः**=सर्वत्र ओत-प्रोत किये हुए हैं—**'स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु'**।

भावार्थ—प्रभु का रक्षक गुण सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु की यह प्रकृति मद=आनन्द देनेवाली है। वे प्रेरक प्रभु इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ओत-प्रोत हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च

तौविलिकेऽ वेलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

१. हे **तौविलिके**=(तु वृद्धौ+इल गतौ) सदा वृद्ध प्रभु से गति करनेवाली प्रकृते। तू **अव ईलय**=अपने को हमसे दूर प्रेरित कर—हमें बाँधनेवाली न हो। **अयम्**=यह **ऐलबः**=समस्त प्रकृति का सञ्चालक प्रभु (इला, वा गतौ) अब **ऐलयीत्**=तुझे हमसे दूर करे। प्रभु के अनुग्रह से हम तुझमें फँसे नहीं। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **निराल**=(अल वारणे) कर्त्तव्य के निवारण से निर्गत—निश्चय से कर्त्तव्य का पालन करनेवाले जीव! **बभ्रुः च**=सब शक्तियों का भरण करनेवाला, **बभ्रुकर्णः च**=और धारक शक्तियों को सर्वत्र विकीर्ण करनेवाला तू—सबका धारण करनेवाला तू **अप इहि**=प्रकृति-बन्धन से दूर हो। कर्त्तव्य का पालन करता हुआ, शक्तियों को धारण करनेवाला तथा सबको धारण करनेवाला बनता हुआ तू प्रकृति-बन्धन से ऊपर उठेगा।

भावार्थ—हम प्रकृति बन्धन से ऊपर उठें। इसी उद्देश्य से (क) कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें, (ख) शक्तियों का धारण करें, (ग) धारक शक्तियों को सर्वत्र फैलाएँ—सबका धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाप्रतिष्ठागायत्री**॥

अलसालाः, सिलाञ्जाला, नीलागलसाला

अ॒ल॒सालाँसि॒ पूर्वा॑ सि॒लाञ्जा॑ला॒स्युत्त॑रा। नी॒ला॒ग॒ल॒सालाः॥ ४॥

१. हे प्रकृते! तू **पूर्वा**=सर्वप्रथम **अ-लसाला असि**=न चमकती हुई—अव्यक्त-सी है। प्रलयकाल में प्रकृति चमक नहीं रही होती। यह उसकी अव्यक्त अवस्था होती है। **उत्तरा**=इसके पश्चात् सृष्टिकाल में तू **सिलाञ्जाला असि**=(सिला अन्न आला) कण-कण में व्यापक जगत् को प्रकट करने में समर्थ होती है—अव्यक्त से तू व्यक्त हो जाती है। २. अब अन्त में **नीलागलसाला**=(नील-आगल, साला षल गतौ) सब शरीर-गृहरूप नीड़ों को निगल जाने में गतिवाली होती है। सब शरीर इस अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और अन्त में इस अव्यक्त प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं '**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।**'

भावार्थ—हम प्रकृति के स्वरूप को समझें। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के स्वरूप को समझते हुए इस प्रकृति में फँसे नहीं और अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है—अर्थ अर्वाङ्=आत्म-निरीक्षण करनेवाला। यह व्यक्ति अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ उत्तम सन्तान का निर्माण करता है। यह अपनी पत्नी से कहता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**गर्भदृंहणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनुसूतं सवितवे

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही भूता॑नां॒ गर्भ॑मा॒द॒धे।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे॥ १॥
यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धारे॒मान्व॒न॒स्पती॑न्।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे॥ २॥
यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ पर्व॑ता॒न्गि॒रीन्।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे॥ ३॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **इयम्**=यह **मही पृथिवी**=विशाल पृथिवी **भूतानाम्**=सब प्राणियों के **गर्भम्**=मूलभूत बीज को **आदधे**=धारण करती है **एव**=इसीप्रकार हे प्रियतमे! **ते**=तेरा **गर्भः**=गर्भ **ध्रियताम्**=धारण किया जाए। यह गर्भ **अनु सूतुं सवितवे**=पुत्र को अनुकूल समय पर जन्म देने के लिए हो। २. **यथा इयं मही पृथिवी**=जिस प्रकार यह विशाल **पृथिवी इमान् वनस्पतीन् दाधार**=इन वनस्पतियों को धारण करती है, **एव**=इसीप्रकार ते **गर्भं ध्रियताम्**=तेरा यह गर्भ धारण किया जाए और **अनु सूतुं सवितवे**=पुत्र को अनुकूल समय पर जन्म देनेवाला हो। ३. **यथा इयं मही पृथिवी**=जैसे यह विशाल पृथिवी **पर्वतान् गिरीन्**=इन बड़े पर्वतों और छोटी पहाड़ियों को **दाधार**=धारण करती है। इसीप्रकार तेरा गर्भ धारण किया जाए और वह अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देनेवाला हो। ४. **यथा इयं मही पृथिवी**=जैसे यह विशाल पृथिवी **विष्ठितं जगत् दाधार**=नाना प्रकार से विभक्त—व्यवस्थित चराचर जगत् को धारण करती है उसी प्रकार तेरा यह गर्भ धारण किया जाए और वह अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—माता पृथिवी के समान है। पृथिवी की भाँति ही सब भूतों के गर्भ को धारण करती है और अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है। इसमें यह 'ईर्ष्या' को एक महान् दोष के रूप में देखता है। माता में ईर्ष्या की वृत्ति गर्भस्थ बालक की मृत्यु का भी कारण बन जाती है, अतः ईर्ष्या के त्याग का उपदेश करते हैं—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्या=हृदय्य अग्नि

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम।
अग्निं हृदय्यं[1] शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

१. **ते**=तेरी **ईर्ष्यायाः**=ईर्ष्या की—डाह की **प्रथमां ध्राजिम्**=पहली गति को—वेग को **निर्वापयामसि**=बुझा देते हैं, **उत**=और **प्रथमस्याः**=उस ईर्ष्या की प्रथम ध्राजि के पश्चात् होनेवाली **अपराम्**=ईर्ष्या की दूसरी जलन को बुझाते हैं। २. इस ईर्ष्या को जोकि **अग्निम्**=आग के समान है, **हृदय्यं शोकम्**=हृदय में होनेवाला शोक (विषाद) है, **तम्**=उसे (निर्वापयामसि) बुझा देते हैं।

भावार्थ—ईर्ष्या अग्नि के समान है। यह हृदय के आनन्द को समाप्त करके उसे सन्तप्त करनेवाली है। इसके वेग को शान्त करना ही ठीक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्यालु-मृतमनाः

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **भूमिः**=यह भूमि **मृतमनाः**=मृत मनवाली है—अचेतन है, **मृतात् मृतमनस्तरा**=मरे हुए से भी अधिक मृत मनवाली है, **उत**=और **यथा**=जैसे **मम्रुषः**=मरणासन्न पुरुष का **मनः**=मन होता है, **एव**=इसीप्रकार **ईर्ष्योः**=ईर्ष्यालु का **मनः मृतम्**=मन मृत होता है।

भावार्थ—ईर्ष्या मनुष्य के मन को मार डालती है, उसे अचेतन-सा कर देती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मनस्कं पतयिष्णुकम्

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **मनस्कम्**=छोटा मन (अल्पे ह्रस्वे कन्)—तंग दिल **ते हृदि श्रितम्**=तेरे हृदय में रक्खा है, वह **पतयिष्णुकम्**=तुझे गिरानेवाला है। २. **ततः**=वहाँ से—उस मन से **ते**=तेरी **ईर्ष्याम्**=इस ईर्ष्या को **मुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। उसी प्रकार **इव**=जैसे **दृतेः**=चर्म की बनी धौंकनी से **ऊष्माणं निः**=गर्म वायु को फूँककर बाहर कर देते हैं।

भावार्थ—जब मनुष्य तंग दिल होता है तब ईर्ष्या का शिकार हो जाता है। यह उसके पतन का कारण बनती है, अतः ईर्ष्या को समाप्त करना ही ठीक है।

विशेष—ईर्ष्या-विनाश से अपने मन में शान्ति का विस्तार करनेवाला यह 'शन्ताति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पवित्रता का सम्पादन

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥ १॥

१. जीवन-यात्रा के प्रारम्भ में **देवजनाः**='**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव**' इन वाक्यों के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य **मा पुनन्तु**=मुझे पवित्र करनेवाले हों। माता मेरे चरित्र को उत्तम बनाये। पिता मुझे शिष्टाचार-सम्पन्न करे तथा आचार्य मुझे ज्ञान से परिपूर्ण करे। अब जीवन-यात्रा की दूसरी मंजिल में—दूसरे प्रयाण (गृहस्थ) में समय-समय पर आनेवाले **मनवः**=विचारशील अतिथि (अतिथिदेवो भव) **धिया**=उत्तम बुद्धि व कर्मों से **पुनन्तु**=पवित्र करें। इनकी प्रेरणा मुझे सत्पथ पर चलानेवाली हो। २. फिर वानप्रस्थ बनने पर **विश्वा भूतानि**=सब प्राणी **पुनन्तु**=मुझे पवित्र करें। वानप्रस्थ की तपोमयी साधना में मैं सब प्राणियों से किसी-न-किसी उत्तम गुण को सीखने का प्रयत्न करूँ। अन्त में संन्यासावस्था में **पवमानः**=सबको पवित्र करनेवाला वह प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे—प्रभु स्मरण मेरी सब मलिनताओं के विनाश का कारण बने। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' इनका मैं पूजन करूँ। ये मुझे पवित्र बनाएँ। यह 'पञ्चायतनपूजा' मेरे पाँचों भूतों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों को, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को, पाँचों प्राणों को व मन, बुद्धि, चित, अहंकार व हृदय को पवित्र करे।

भावार्थ—'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' का सान्निध्य मेरे जीवन को पवित्र बनानेवाला हो।

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

क्रत्वे, दक्षाय, जीवसे, अरिष्टतातये

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥ २॥

१. **पवमानः**=पवित्र करनेवाले प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करें, जिससे मेरा जीवन **क्रत्वे**=उत्तम ज्ञान व कर्मसंकल्पों के लिए हो। मेरा यह जीवन **दक्षाय**=बल के लिए हो। **जीवसे**=मैं पूर्ण

जीवन को जीनेवाला होऊँ **अथ उ**=और निश्चय से **अरिष्टतातये**=मैं कल्याण के विस्तार के लिए होऊँ।

भावार्थ—प्रभु-सम्पर्क मुझे 'क्रतुमान्, दक्ष, पूर्ण, जीवनवाला व कल्याणमय कार्यों को करनेवाला' बनाए।

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

पवित्रेण सवेन च

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान्पुनीहि चक्षसे॥ ३॥

१. हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) **च**=और **सवेन**=यज्ञ के द्वारा **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता का सम्पादन करता है तो यज्ञ कर्मेन्द्रियों को पवित्र रखता है। २. **उभाभ्याम्**=आप इन दोनों से ही हमें पवित्र कीजिए, जिससे **चक्षसे**=हम आपको देखने के लिए हों। अपवित्रता का आवरण प्रभु-दर्शन में प्रतिबन्धक है। मल का आवरण हटते ही हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानों व कर्मों द्वारा पवित्र करें, जिससे हम उसका दर्शन कर सकें।

विशेष—जीवन को पवित्र बनानेवाला प्रभु हमें ज्ञान व कर्मों द्वारा पवित्र करता है। पवित्रता हमें प्रभु-दर्शन का पात्र बनाती है। अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु+अङ्गिराः' सदा गतिशील होता है। यही अलगे सूक्त का ऋषि है।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

अव्रतता तथा ज्वर

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिणः उतेव मत्तो विलपन्नपायति।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥ १॥

१. **शुष्मिणः अग्नेः इव**=प्रबल (सुखा देनेवाले) अग्नि के समान **दहतः**=सन्तप्त करते हुए **अस्य**=इस ज्वर का वेग **एति**=आता है। उस समय यह ज्वरक्रान्त पुरुष **मत्तः इव**=विचारहीन, उन्मत्त-सा **उत**=और **विलपन्**=बड़बड़ाता हुआ (delirium में) **अप अयति**=दूर भागता है। २. यह **अव्रतः**=व्रतशून्य पुरुष को—अनियमित जीवनवाले पुरुष को होनेवाला ज्वर **अस्मत् अन्यम्**=हमसे भिन्न **किञ्चित्**=किसी अन्य पुरुष की **इच्छतु**=इच्छा करे, **तपुर्वधाय**=सन्तापक शस्त्र को धारण करनेवाले इस **तक्मने**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—हमसे यह दूर ही रहे।

भावार्थ—शरीर को सन्तप्त करनेवाला, मन को उन्मत्त और वाणी में बड़बड़ाहट उत्पन्न करनेवाला ज्वर अनियमित जीवनवाले पुरुषों को ही होता है, अतः हम व्रतमय जीवनवाले बनकर अपने को इस ज्वर से बचाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मतीप्रस्तारपङ्क्तिः**॥

'नमः रुद्राय नमः अस्तु तक्मने'

नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते।
नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः॥ २॥

१. **रुद्राय**=रोगों का द्रावण करनेवाले वैद्य को **नमः**=नमस्कार हो और इस **तक्मने नमः अस्तु**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर के लिए भी नमस्कार हो—यह हमें दूर से ही छोड़ जाए। हम उस **त्विषीमते**=दीप्तिवाले **वरुणाय**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले **राज्ञे**=शासक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर नीरोग करता है। **दिवे नमः पृथिव्यै नमः**=हम पितृरूप द्युलोक के लिए तथा मातृरूपा इस पृथिवी के लिए नमस्कार करते हैं। इनका उचित सम्पर्क अपने साथ बनाते हैं और इनके द्वारा प्रदत्त **ओषधीभ्यः**=ओषधियों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। इनके उचित सेवन से रोगों को दूर करते हैं।

भावार्थ—रोग को दूर करने के लिए 'प्रभु-स्मरण, योग्य वैद्य की प्राप्ति तथा द्युलोक व पृथिवीलोक से प्रदत्त ओषधियों का प्रयोग' आवश्यक है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥

अभिशोचयिष्णुः

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने॥ ३॥

१. **अयं यः**=यह जो **अभिशोचयिष्णुः**=शोक को बढ़ानेवाला रोग है, वह तू **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को **हरिता कृणोषि**=पीला-सा—निस्तेज-सा कर देता है। इस पीलिया के रोगी को सब वस्तुएँ पीली-पीली-सी दिखने लगती हैं। २. **तस्मै**=उस **ते**=तेरे लिए जो तू **अरुणाय बभ्रवे**=लाल व भूरे रङ्ग का है—जो तू रोगी को ज्वर-वेग में लाल-सा व भूरा-सा कर देता है, उस तुझ **वन्याय तक्मने**=वन में (मच्छरों की अधिकता से) उत्पन्न हो जानेवाले ज्वर के लिए **नमः कृणोमि**=हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—ज्वर हमें शोक-सन्तप्त करता है, दृष्टि को विकृत कर हमारे लिए सब रूपों को पीला-सा कर देता है। वन्यभूमि में उत्पन्न होनेवाले इस ज्वर से हम बचने का उपाय करते हैं।

विशेष—उचित औषध-प्रयोग से ज्वर को शान्त करके शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूमि उत्तमा

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्॥ १॥

१. **इमाः**-ये **याः**=जो **तिस्रः**=तीन **पृथिवीः**=(पथ विस्तारे) विस्तृत लोक हैं, **तासाम्**=उनमें **ह**=निश्चय से **भूमिः उत्तमा**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) जिसपर प्राणियों का निवास है, ऐसी यह भूमि उत्तम है। द्युलोकस्थ सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जलों को वाष्पीभूत करके अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण करता है। इनसे वृष्टि होकर भूमि पर विविध ओषधियों की उत्पत्ति होती है। २. **तासाम्**=उन लोगों के **अधित्वचः**=आवरणभाग—उनकी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले **भेषजम्**=औषध को **उ**=निश्चय से **अहम्**=मैं **सम् अजग्रभम्**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—इस पृथिवी की पीठ पर अन्तरिक्ष की वृष्टि व सूर्य-किरणों द्वारा उत्पन्न होनेवाली ओषधियों को मैं ग्रहण करता हूँ। इनके द्वारा रोगों को दूर करके मैं शान्ति प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भेषजानां श्रेष्ठम्, वीरुधानां वसिष्ठम्

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्।
सोमो भगइव यामेषु देवेषु वरुणो यथा॥ २॥

१. हे ओषधे! तू **भेषजानां श्रेष्ठं असि**=औषधों में श्रेष्ठ है, **वीरुधानाम्**=बेलों व लताओं में **वसिष्ठम्**=सर्वोत्तम निवास का साधन है। २. **इव**=जैसे **यामेषु**=जीवन के सब कालों में **सोमः**=सोम (वीर्य) **भगः**=सर्वोत्तम ऐश्वर्य है और **यथा**=जैसे **देवेषु**=सब देवों में **वरुणः**=कष्टों का निवारक प्रभु श्रेष्ठ है, वैसे ही यह औषध भी श्रेष्ठ है।

भावार्थ—औषध की क्षमता में विश्वास रखते हुए हम औषध-प्रयोग करेंगे तो वह अवश्य रोग को दूर करेगी।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनाधृषः सिषासवः

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः॥ ३॥

१. हे ओषधियो! तुम **रेवती**=आरोग्यरूप ऐश्वर्यशाली हो, **अनाधृषः**=रोगरूप शत्रुओं से धर्षित न होनेवाली हो, **सिषासवः**=हमारे लिए आरोग्य का सम्भजन करने की कामनावाली हो, **सिषासथ**=अतः हमारे लिए आरोग्य देने की इच्छा करो। २. इसप्रकार हमें स्वस्थ करके **उत**=निश्चय से **केशदृंहणीः स्थ**=केशों को दृढ़ करनेवाली हो **अथो**=और **ह**=निश्चय से **केशवर्धनीः**=केशों को बढ़ानेवाली हो। निर्बलता में केश झड़ने लगते हैं। ये औषध हमें नीरोग बनाकर दृढ़ केशोंवाला बनाते हैं।

भावार्थ—औषधों में अरोग्यरूप ऐश्वर्य का निवास है। इन्हें रोग पराजित नहीं कर पाते। यह रोगों को जीतने की कामनावाली है। ये हमें नीरोग बनाकर दृढ़ केशोंवाला व बढ़े हुए केशोंवाला बनाती है (गुडाकेश)।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आदित्यरश्मिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हरयः सुपर्णाः

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः॥ १॥

१. **हरयः**=जल का हरण करनेवाली **सुपर्णाः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाली वायुएँ **अपः वसानः**=जल को धारण करती हुई **कृष्णम्**=सबका आकर्षण करनेवाले **नियानम्**=निश्चित गतिवाले **दिवम्**=सूर्य की ओर **उत्पतन्ति**=ऊपर उठती हैं। सूर्य-किरणों द्वारा वाष्पीभूत जल को लेकर वायुएँ ऊपर आकाश में उठती हैं। २. **ते**=वे वायुएँ **ऋतस्य**=जल के (rain water) **सदनात्**=सदन—अन्तरिक्ष से **आववृत्रन्**=पुनः वापस आती हैं, **आत् इत्**=और तब शीघ्र ही **घृतेन**=जल से **पृथिवीम् व्यूदुः**=पृथिवी को गीला कर देती हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत जल को लेकर वायुएँ सूर्य की ओर ऊपर उठती हैं। वे ही वायुएँ अन्तरिक्ष से लौटती हुई जल बरसाती हैं और सारी पृथिवी को गीला कर डालती हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिग्जगती** ॥

ऊर्जं च सुमतिं च

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु॥ २॥

१. हे **रुक्मवक्षसः मरुतः**=चमकती विद्युत् को वक्षस्थल पर धारण करनेवाले वायुओ! **यत्**=जब **एजथ**=तुम गति करते हो तब **अपः**=जलों को **पयस्वतीः**=वर्धनवाला **कृणुथ**=करते हो और **ओषधीः**=ओषधियों को **शिवः**=कल्याणकर करते हो। २. हे **नरः**=वृष्टि के प्रणेता **मरुतः**=वायुओ! आप **यत्र**=जहाँ **मधु सिञ्चथ**=मधु-तुल्य जलों का सेचन करते हो तत्र वहाँ **ऊर्जं च**=बल और प्राणशक्ति को **च**=तथा **सुमतिम्**=शोभन बुद्धि को ही **पिन्वत**=बरसाते हो। (पिवि सेचने)। आपके मधुर जलों से उत्पन्न ओषधियाँ बल व सुमति का वर्धन करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—वृष्टिजल से उत्पन्न ओषधियाँ हमारा आप्यायन करती हैं और कल्याणकर होती हैं। वृष्टिजलोत्पन्न अन्न से बल व बुद्धि का वर्धन होता है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उदप्रुतः मरुतः

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्तृणाति।
एजाति ग्लहा कन्ये ऽव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया॥ ३॥

१. **उदप्रुतः मरुतः**=जल के भेजनेवाले वायुओ! **तान् इयर्त**=उन वृष्टिजलों को तुम भेजो **यः वृष्टिः विश्वा निवतस्तृणाति**=जो वृष्टि सब निम्न स्थलों को भर डालती है। **ग्लहा**=(माध्यमिका वाक्) विद्युत् **एरुं एजाति**=गतिशील मेघ को इसप्रकार कम्पित करती है **इव**=जैसे **पत्या तुन्ना कन्या**=पति से व्यथित कन्या माता-पिता को अथवा **इव**=जैसे **तुन्दाना जाया**=भय से व्यथित पत्नी पति को।

भावार्थ—मरुत् उस वृष्टि को प्राप्त कराएँ जिससे कि सब निम्नस्थल भर जाएँ। विद्युत् गर्जना से मेघ कम्पित-से हो उठें।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वरेण्य क्रतु द्वारा अपों का आह्वान

सस्त्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्त्रुषीः। वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये॥ १॥

१. **वरेण्यक्रतुः अहम्**=प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म व प्रज्ञानवाला मैं **तत् सस्त्रुषीः**=उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं को **च**=और **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **सस्त्रुषीः अपसः**=धाराओं में बहनेवाले जलों को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। जल बह रहे हैं और बह ही रहे हैं। मैं भी निरन्तर कार्यक्रम में बहनेवाला—शान्तभाव से कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाला बनूँ। २. मैं **देवीः अपः**=इन दिव्य गुणयुक्त जलों को पुकारता हूँ। इनके प्रयोग से मैं रोगों को जीतनेवाला बनूँ। नीरोग बनकर जलों की भाँति शान्तभाव से कर्त्तव्यधारा में बहनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम जलों का स्मरण करें। जलों की भाँति शान्तभाव से कर्त्तव्यधारा में बहें। यही 'वरेण्यक्रतु' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

कर्मण्या आपः

ओता आपः कर्मण्या ∫मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

१. शरीरस्थ रेतः कण 'आपः' हैं। ये **आपः**=रेतःकण **कर्मण्याः**=हमें सब कर्मों में कुशल बनाते हैं जबकि ये **ओताः**=मेरे शरीर में व्याप्त हों। ये मुझे **प्रणीतये**=प्रकृष्ट मार्ग पर चलने के लिए **इतः मुञ्चन्तु**=इधर से मुक्त करें। मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो। नीरोगता में ही आगे बढ़ना सम्भव है। २. ये रेतःकण **सद्यः**=शीघ्र ही **एतवे कृण्वन्तु**=मुझे गति के लिए करें। इनके रक्षण के द्वारा मैं शक्तिशाली बनूँ और क्रियाशील होऊँ।

भावार्थ—शरीर में रेतःकणों के रूप में व्याप्त ये जल मुझे नीरोग बनाकर उन्नति-पथ पर ले-चलें और मुझे क्रियामय जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

क्रियाशीलता व कल्याण

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

१. **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में **मानुषाः**=विचारशील पुरुष **कर्म कृण्वन्तु**=अपने कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले हों। २. इस क्रियाशीलता के होने पर **नः**=हमारे लिए **अपः**=जल व **ओषधीः**=ओषधियाँ **शम्**=शान्ति देनेवाली व **शिवाः**=कल्याण करनेवाली **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु की अनुज्ञा में कर्म करने पर जल हमें शान्ति देनेवाले होते हैं और ओषधियाँ कल्याणकारिणी होती हैं।

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समुद्रजल हृद्द्योतभेषज

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन्हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥

१. **आपः**=जल **हिमवतः प्रस्रवन्ति**=हिमाच्छादित पर्वतों से बहते हैं और **अह**=निश्चय से **सिन्धौ**=समुद्र में **सङ्गमः**=इनका एकत्र मेल होता है। ये विविध पर्वतों से बहनेवाले जल जब समुद्र में एकत्र होते हैं तब उनमें कितनी ही औषधों के गुण आ जाते हैं। २. अतः **तत्**=ये **देवीः आपः**=दिव्य गुणयुक्त जल **ह**=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **हृद्द्योतभेषजम् ददन्**=हृदय के जलन की औषध दें। इन जलों के प्रयोग से हृदय की जलन शान्त हो।

भावार्थ=हिमाच्छादित पर्वतों से बहकर समुद्र में एकत्र होनेवाले जल हृदय की जलन को शान्त करने के सर्वोत्तम औषध हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जल से जलन का निराकरण

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पाष्ण्र्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत्सर्वं निष्करन्भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

१. **यत्**=जो रोग **मे**=मेरी **अक्ष्योः**=आँखों में **पार्ष्णयोः**=एड़ियों में **च**=और **यत्**=जो **प्रपदोः**=पाँव के अग्रभाग में **आदिद्योत**=जलन-सी पैदा करता है, **तत् सर्वम्**=उस सब रोग को **आपः**=जल **निष्करन्**=दूर करते हैं। २. ये जल वस्तुतः **भिषजां सुभिषक्तमाः**=वैद्यों में सर्वोत्तम वैद्य हैं।

भावार्थ—किन्हीं रोगों में आँखें, एड़ियों व पाँवों के अग्रभाग में जलन उत्पन्न होती है। जलों के प्रयोग से यह जलन दूर की जाती है। जल इसके सर्वोत्तम औषध हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिन्धुपत्नीः, सिन्धुराज्ञीः

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यः१ स्थन।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै॥ ३॥

१. **सिन्धुपत्नीः**=समुद्र की पत्नीरूप **सिन्धुराज्ञीः**=विशाल जल प्रवाहों से दीप्त **याः**=जो **सर्वाः नद्यः**=सब नदियाँ **स्थन**=हैं, वे **नः**=हमारे लिए **तस्य**=उस रोग के—जलन उत्पन्न करनेवाले रोग के **भेषजं दत्त**=औषध को प्राप्त कराएँ। २. **तेन**=उस औषध के हेतु से ही हम **वः भुनजामहै**=आपका सेवन (उपयोग) करते हैं। नदी-जल में स्नान कितने ही रोगों का निवारण करनेवाला होता है। बड़ी-बड़ी नदियों में कितने ही जल-प्रवाहों का सङ्गम होता है। पर्वतों से बहते हुए ये प्रवाह अपने जलों में विविध औषधों के गुणों से युक्त होते हैं। बड़ी नदियों में जलों में सब गुण उपलब्ध हैं। ये नदियाँ समुद्र की मानो पत्नियाँ हैं, अपने प्रवाह से शोभायमान हैं।

भावार्थ—बड़ी-बड़ी नदियों का जल विविध औषध-गुणों को लिये हुए होता है। उसका सेवन हमें नीरोग बनाता है।

विशेष—नदी-जलों के प्रयोग से अपने शरीर को नीरोग बनाकर जीवन को सुखी बनानेवाला 'शुनःशेप' (शुनं सुखम्) अगले सूक्त का ऋषि है।

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**मन्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मन्या, ग्रैव्य व स्कन्ध्य' नाड़ियों के विकार का निराकरण

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ १॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ २॥
नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ ३॥

१. **याः**=जो **पञ्च च पञ्चाशत् च**=पाँच और पचास पीड़ाएँ **मन्याः अभि**=गले के पृष्ठ भाग की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त होती हैं, **ताः सर्वाः**=वे सब **इतः**=यहाँ से इसप्रकार **नश्यन्तु**=नष्ट हो जाएँ, **इव**=जैसे विद्वानों के सामने **अपचितां वाकाः**=मूर्खों के वचन। २. **याः**=जो **सप्त च सप्ततिः च**=सात और सत्तर पीड़ाएँ **ग्रैव्याः अभि**=गले की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त हो जाती हैं, वे सब यहाँ से उसी प्रकार नष्ट हो जाएँ **इव**=जैसेकि ज्ञानियों के सामने **अपचिताम् वाकाः**=मूर्खों के वचन नष्ट हो जाते हैं। **याः**=जो **नव च नवतिश्च**=नौ और

नव्वे पीड़ाएँ **स्कन्ध्याः अभि**=कन्धों की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त हो जाती हैं, वे सब यहाँ से इसप्रकार नष्ट हो जाएँ जैसेकि ज्ञानियों के सामने मूर्खों के वचन नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—'मन्या, ग्रैव्य व स्कन्ध्य' नाड़ियाँ में विकार के कारण गण्डमाला का रोग प्रकट होता है। नाना प्रकार की फुंसियों या गिलटियों से बना यह रोग जल के ठीक प्रयोग से दूर किया जाए, तभी जीवन सुखी होगा।

विशेष—शरीर के रोगों की भाँति मानस रोगों को दूर करनेवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है—बड़ा—एकदम निष्पाप। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**पाप्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाप का अभिभव

अव॑ मा पाप्मन्त्सृज व॒शी सन्मृ॑डयासि नः।
आ मा॑ भ॒द्रस्य॑ लो॒के पा॑प्मन्धेह्यवि॑ह्रुतम्॥ १॥

१. हे **पाप्मन्**=पाप के भाव! **मा**=मुझे **अवसृज**=दूर से ही छोड़ दे। **वशी सन्**=पूर्णरूप से वश में आया हुआ तू **नः मृडयासि**=हमें सुखी कर। पाप के भाव को पूर्णरूप से वशीभूत करने पर ही सुख होना सम्भव है। २. हे **पाप्मन्**=पाप के भाव! **मा**=मुझे **अविह्रुतम्**=सरल, निष्कपटरूप में **भद्रस्य लोके**=सुख व कल्याण के लोक में **आधेहि**=स्थापित कर।

भावार्थ—पापभाव को पूर्णरूप से वश में करके निष्कपट जीवन बिताते हुए हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**पाप्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाप के छोड़ने का दृढ़ निश्चय

यो नः॑ पाप्म॒न्न ज॑हा॒सि॒ तमु॑ त्वा जहिमो व॒यम्।
प॒थामनु॑ व्या॒वर्त॑ने॒ऽन्यं पा॒प्मानु॑ पद्यताम्॥ २॥

१. हे **पाप्मन्**=पापभाव! **यः**=जो तू **नः**=हमें **न जहासि**=नहीं छोड़ता है, **तं त्वा**=उस तुझे **वयम्**=हम ही **उ**=निश्चय से **जहिमः**=छोड़ देते हैं। पाप को छोड़ने का दृढ़ निश्चय ही सर्वोत्तम व्रत है। २. **पथाम् अनु व्यावर्तने**=(पथ गतौ) गतिशील इन्द्रियों को अनुकूल कर्मों में लौटा लेने पर—उचित कर्मों में लगाने के द्वारा—इन्द्रियों को निरुद्ध कर लेने पर **पाप्मा**=यह पापभाव **अन्यं अनुपद्यताम्**=इन्द्रिय-निरोध न करनेवाले दूसरे ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हो।

भावार्थ—पाप हमें नहीं छोड़ जाएगा, इसे तो हमें ही छोड़ना होगा। इन्द्रियों को अनुकूल कार्यों में व्यापृत रखना ही पाप से बचने का उपाय है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**पाप्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहस्राक्षः अमर्त्य

अ॒न्यत्रा॒स्मन्न्यु ⌠ च्यतु सहस्रा॒क्षो अम॑र्त्यः।
यं द्वे॒षा॒म॒ तमृ॑च्छतु॒ यमु॒ द्विष्मस्तमिज्ज॑हि॥ ३॥

१. यह **सहस्राक्षः**=(सहस्रं=सहस्वत्—निरु० ३.२.४) इन्द्रियों पर प्रबल होनेवाले **अमर्त्यः**=नष्ट न होनेवाला—जिसका विनाश बड़ा कठिन है—वह पाप **अस्मत्**=हमसे **अन्यत्र**=अन्य स्थान में ही **न्युच्यतु**=निवासवाला हो। २. यह पाप तो **तम् ऋच्छतु**=उसे प्राप्त हो **यम्**=जिससे **द्वेषाम**=हम

प्रीति नहीं करते। **उ**=निश्चय से **यं द्विष्मः**=जिससे हम प्रीति नहीं करते, हे पाप्मन्! **तम् इत्**=उसे ही तू **जहि**=नष्ट करनेवाला हो—**'हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते।'**

भावार्थ—यह प्रबल पाप हमसे दूर ही निवास करे। जो सबका अप्रिय है, वही इस पाप से नष्ट किया जाए।

विशेष—अपने से पाप को दूर करनेवाला, अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है। यह सर्वनियन्ता प्रभु को 'यम' के रूप में स्मरण करता है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कपोतः, निर्ऋत्याः दूतः

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानियो! वह **क-पोतः**=आनन्द का पोत (जलयान=जहाज़) **इषितः**=(इषितं अस्य अस्तीति) प्रेरणा देनेवाला, **निर्ऋत्याः दूतः**=दुर्गति को उपतप्त करके दूर करनेवाला प्रभु **यत्**=जब **इच्छन्**=हमारा हित चाहता हुआ **इदम् आजगाम्**=इस हमारे हृदयदेश में प्राप्त होता है तब **तस्मै**=उस प्रभु के लिए हम **अर्चाम**=पूजन करते हैं और इसप्रकार **निष्कृतिं कृणवाम**=सब पापों का बहिष्कार करते हैं। २. प्रभुपूजन के द्वारा हम पापों को अपने से दूर करते हैं और इसप्रकार यही चाहते हैं कि **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो और **चतुष्पदे शम्**=चार पाँवोंवाले पशुओं के लिए भी शान्ति हो।

भावार्थ—प्रभु आनन्द के समुद्र हैं, हमें कर्त्तव्यकर्म की प्रेरणा देनेवाले हैं, कष्टों को दूर करनेवाले हैं। हम हृदय में उनका अर्चन करें और इसप्रकार अपने कष्टों को दूर करते हुए शान्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शिवः शकुनः

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु॥ २॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानियो! यह **इषितः**=प्रेरणा प्राप्त करानेवाला **क-पोतः**=आनन्द का पोत प्रभु **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करानेवाला **अनागाः**=हमें निष्पाप बनानेवाला **अस्तु**=हो। **नः**=हमारे **गृहम्**=घर को **शकुनः**=यह शक्ति-सम्पन्न करे। प्रभु का उपासन करते हुए हमारे घर के सब व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न हों। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हि**=निश्चय से **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है, वह **नः**=हमारी **हविः जुषताम्**=हवि का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। हम यज्ञशील हों और प्रभु हमारे यज्ञों को स्वीकार करें। यज्ञशील होने पर **पक्षिणी**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह-सम्बन्धी **हेतिः**=लोभरूप वज्र **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=छोड़नेवाला हो। हमपर लोभरूप वज्र का प्रहार न हो।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें, प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। हमें शक्तिशाली व निष्पाप बनाते हैं। यह प्रभु-स्मरण ही हमें यज्ञशील बनाकर लोभ-वज्र के प्रहार से बचाता है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रभु स्मरण व यज्ञशीलता

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवो इह हिंसीत्कपोतः॥ ३॥

१. प्रभु-स्मरण होने पर **पक्षिणी हेतिः**=परिग्रह-सम्बन्धी लोभ-वज्र—लोभवृत्तिरूप वज्र **अस्मान्**=हमें **न दभाति**=हिंसित नहीं करता। **आष्ट्री**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त रहनेवाला यह प्रभुभक्त **अग्निधाने**=(हविर्धाने) अग्निहोत्र करने के स्थानभूत कमरे में **पदं कृणुते**=पग रखता है, अर्थात् सदा यज्ञशील बनता है। ऐसा होने पर **नः गोभ्यः**=हमारी गौओं के लिए **उत**=और **पुरुषेभ्यः**=घर के सब व्यक्तियों के लिए **शिवः अस्तु**=वे प्रभु कल्याण करनेवाले हों। २. हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **नः**=हमें **क-पोतः**=वे आनन्द के समुद्र प्रभु **इह**=इस जीवन में **मा हिंसीत्**=हिंसित न करें। हम प्रभु से दण्डनीय न होकर प्रभु से अनुग्रहणीय हों।

भावार्थ—लोभ से ऊपर उठकर हम यज्ञशील बनें। यह यज्ञशीलता हमारा कल्याण करेगी और हमें प्रभु से अनुग्रहणीय बनाएगी।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कपोतम्, प्रणोदम्

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात्पथिष्ठः॥ १॥

१. **ऋचा**=स्तुति के द्वारा **प्रणोदम्**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त करानेवाले **क-पोतम्**=आनन्द-पोत के समान प्रभु को **नुदत**=अपने हृदय में प्रेरित करो। प्रभु के सम्पर्क में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **इषम्**=प्रभु-प्रेरणा को तथा **गाम्**=इस वेदवाणी को **परिनयामः**=अपने साथ परिणत करते हैं। प्रभु-प्रेरणा व प्रभुवाणी को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। २. इसप्रकार हम दुरिता **पदानि**=अशुभ गतियों को **संलोभयन्तः**=विनष्ट करनेवाले होते हैं। **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **हित्वा**=धारण करके **पथिष्ठः प्रपदात्**=मार्ग पर चलानेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु हमारे आगे चले। प्रभु हमारे नेता हों। उस अग्नि के नेतृत्व में हम भी अग्नि बन पाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु आनन्द के पोत हैं। हमें प्रेरणा देनेवाले हैं। हम प्रभु-प्रेरणा व प्रभु वाणी को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। अशुभ गतियों को छोड़कर बल व प्राण को धारण करके प्रभु के अनुयायी बनें। प्रभु ही हमारे नेता हों।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गो परिणय

परीमे ३ गामनेषत परीमे गामनेषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का अनुसरण करनेवाले **इमे**=ये व्यक्ति **अग्निं परि अर्षत**=प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं। **इमे**=ये **गाम्**=वेदवाणी को **परि अनेषत**=परिणीत करते हैं। वेदवाणी को अपनानेवाले होते हैं। २. इसप्रकार ये **देवेषु**=दिव्य गुणों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=करनेवाले होते हैं, दिव्य गुणों को धारण करके यशस्वी बनते हैं। **कः**=अब कौन **इमान्**=इन्हें **आ दधर्षति**=धर्षित कर सकता है? 'काम-क्रोध, लोभ आदि कोई भी शत्रु इन्हें आक्रान्त करनेवाला

नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलें, वेदवाणी को परिणीत करें, दिव्य गुणों से यशस्वी बनें और काम आदि से अजय्य हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रथमः मृत्युः (आचार्यः)

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
यो ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ३॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=(मृत्युः=आचार्यः) सर्वप्रथम आचार्य है—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्', **प्रवतम् आससाद**=जिसने सर्वोच्च स्थान को प्राप्त किया है, **बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानः**=जो अनेक मनुष्यों के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। वे एक प्रभु अनेक जीवों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। २. **यः**=जो **अस्य**=इन **द्विपदः**=दो पैरवालों व **यः चतुष्पदः**=जो चार पैरवालों का—मनुष्यों व पशुओं का **ईशे**=शासन करनेवाले हैं—ऐश्वर्य देनेवाले हैं, **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता (प्रथमाय) **मृत्यवे**=सर्वप्रथम आचार्य प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=प्रणाम हो।

भावार्थ—प्रभु प्रथम आचार्य हैं, सर्वोच्च स्थान पर स्थित हैं, हम सबके लिए मार्ग-दर्शन करते हैं। सब पशु-पक्षियों के ईश हैं। उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए हम प्रणाम करते हैं।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराट्** ॥

उलूकः

अमून्हेतिः पतत्रिणी न्ये ∫ तु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद्वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति॥ १॥

१. **पतत्रिणी**=पतन की कारणभूत **हेतिः**=हनन (विनाश) करनेवाली यह लोभवृति **अमून्**=हमसे दूरस्थ हमारे शत्रुओं को **नि एतु**=निश्चय से प्राप्त हो। लोभवृति के शिकार हमारे शत्रु ही हों। हम इस लोभवृत्ति से बचे ही रहें। २. **यत्**=जब **उलूकः**=(उच समवाये) प्रभु से समवाय-वाला—स्तवन द्वारा प्रभु से मेलवाला यह स्तोता **वदति**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है तब **एतत् मोघम्**=सब शत्रुओं का आक्रमण व्यर्थ होता है, **यत् वा**=अथवा जब **कपोतः**=आनन्द का पोत प्रभु **अग्नौ**=प्रगतिशील जीवन में **पदम् कृणोति**=पग रखता है, अर्थात् जब कपोत इस अग्नि को प्राप्त होता है। प्रभु की उपस्थिति में उपासक 'काम, क्रोध, लोभ' आदि से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु से मेलवाले बनकर प्रभु के नामों का उच्चारण करें, तब वे आनन्द के पोत प्रभु हमारे हृदयों में आसीन होंगे और तब लोभ आदि शत्रुओं का हमपर आक्रमण न हो सकेगा।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

निर्ऋति के दो दूत

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽ प्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः।
कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु॥ २॥

१. शरीर में 'रोग' तथा मन में 'काम-क्रोध' निर्ऋति (दुर्गति) के दो दूत हैं। हे **निर्ऋते**=

दुर्गते! **यौ**=जो **ते**=तेरे **दूतौ**=रोग व वासनारूप दूत **अप्रहितौ**=अत्यन्त (प्र) अहितकर हैं **वा**=और **प्रहितौ**=किन्हीं कर्मफलों के रूप में भेजे हुए ये दूत **इदं नः गृहम्**=इस हमारे घर को **एतः**=प्राप्त होते हैं। **कपोत+उलूकाभ्याम्**=आनन्द के पोत प्रभु के द्वारा तथा प्रभु के साथ मेल करनेवाले स्तोता के द्वारा **तत्**=वह **अपदम् अस्तु**=पैर जमालेनेवाला न हो—हमारे शरीररूप गृह में रोग व वासनाएँ दृढ़मूल न हो जाएँ। २. इसका उपाय यही है कि हम उस आनन्द के पोत प्रभु से अपना मेल बनाएँ। प्रभु कपोत हैं तो मैं उलूक बनूँ। बस, फिर यहाँ निर्ऋति के दूतों की जड़ न जम पाएगी।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम रोगों व वासनाओं से अपने को बचा पाएँ।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**सप्तपदाविराडष्टिः**॥

अवैरहत्याय, सुवीरतायै

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्सुवीरतायै इदमा ससद्यात्।
पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्॥ ३॥

१. ये कपोत (आनन्द का पोत) प्रभु **इदम्**=इस हमारे हृदय में **आपपत्यात्**=प्राप्त हों, जिससे **अवैरहत्याय**=वैर-विरोध के कारण हमारी हत्या व विनाश न हो। हृदय में प्रभु की स्थिति होने पर हमारे हृदय वैर-भाव से रहित होंगे। ये वैर-भाव ही हमारा विनाश का कारण बनते हैं। वे प्रभु **सुवीरतायै**=उत्तम वीरता के लिए **इदम् आससद्यात्**=हमारे हृदय में आसीन हों। हृदय में प्रभु की स्थिति हमें शक्ति-सम्पन्न बनाती है। २. हे वैर-भाव! तू **पराङ् एव**=दूर ही जानेवाला हो। **पराचीं संवतम् अनु**=(परा+अञ्च, सं+वन्) उस परागतिरूप प्रभु (सा काष्ठा सा परा गतिः) को प्राप्त करानेवाली संभक्ति (सम्भजन) का लक्ष्य करके **परावद**=हमसे दूर रहकर ही बात कर। वैर हमारे समीप आनेवाला न हो। ३. **यथा**=जिससे **यमस्य गृहे**=सर्वनियन्ता प्रभु के गृह में—जिस गृह में उस 'यम' का पूजन होता है, उसमें **त्वा**=हे वैर! तुझे **अरसम्**=निर्बल व निःसार **प्रतिचाकशान्**=देखें, **आभूकम्**=(empty, powerless) थोथा, जर्जर-सामर्थ्यशून्य **प्रतिचाकशान्**=देखें।

भावार्थ—प्रभु हमें हृदय में प्राप्त हों, हमारे हृदय में आसीन हों, जिससे हम वैर-भावों से विनष्ट न हो जाएँ, अपितु उत्तम वीर बनें। वैर हमसे दूर रहे। वैर रहते प्रभुपूजन थोड़े ही होता है? प्रभुपूजन होने पर वैर जर्जरीभूत हो जाता है।

विशेष—वैर-भाव से ऊपर उठकर अपना भरण करनेवाले ये लोग 'उपरिबभ्रवः' कहलाते हैं। ये ही अगले दो सूक्तों के ऋषि हैं।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**शमी**॥ छन्दः—**जगती**॥

मधुना संयुतं यवम्

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः॥ १॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **इमम्**=इस मधुना **संयुतम्**=माधुर्य से युक्त **यवम्**=जौ को **सरस्वत्याम्**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता के निमित्त तथा **मणौ अधि**=शरीरस्थ वीर्यमणि के निमित्त—वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रखने के हेतु से **अचर्कृषुः**=कृषि द्वारा उत्पन्न किया

है। जौ ही देवों का भोजन है। '**यु मिश्रणामिश्रणयोः**' से बना 'यव' शब्द यह संकेत कर रहा है कि यह 'बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को मिलानेवाला है।' २. इस यव को उत्पन्न करनेवालों में **सीरपतिः**=हल का स्वामी **इन्द्रः**=इन्द्र **आसीत्**=था। इस यव का उत्पादक जितेन्द्रिय पुरुष होता है। **शतक्रतुः**=यह शत वर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवनवाला हुआ। यव सात्त्विक भोजन है। इस सात्त्विक आहार से बुद्धि की सात्त्विकता के कारण जीवन को यज्ञमय बनना स्वाभाविक ही है। **कीनाशः**=श्रमपूर्वक हल चलानेवाले किसान, **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—क्रियाशील पुरुष **आसन्**=थे। ये **सुदानवः**=अच्छी प्रकार बुराइयों को काटनेवाले हुए (दाप लवने)। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की पवित्रता से सब वासना-ग्रन्थियों का प्रणाश हो ही जाता है।

भावार्थ—जौ ही सर्वोत्तम अन्न है। यह उत्तम मस्तिष्क का निर्माण करता हुआ ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। वीर्य-रक्षण में यह सहायक है। इसका सेवन करनेवाला 'जितेन्द्रिय, यज्ञशील, मितरावी व अशुभों को काटनेवाला' बनता है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**शमी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शमी

यस्ते॒ मदो॑ऽ वके॒शो वि॑के॒शो येना॑भि॒हस्यं॒ पुरु॑षं कृ॒णोषि॑।
आरात्त्वद॒न्या वना॑नि वृक्षि॒ त्वं श॑मि शत॒वल्शा॒ वि रो॑ह॥ २॥

१. हे **शमि**=शमीवृक्ष! **यः**=जो **ते**=तेरा **मदः**=आनन्ददायक रस है, वह **अवकेशः**=बालों को बढ़ानेवाला है, प्रयोक्ता को लम्बे लटकते हुए बालोंवाला बनाता है, **विकेशः**=यह उसे विशिष्ट केशोंवाला बनाता है। **येन**=क्योंकि तू अपने रस से **पुरुषम्**=पुरुष को **अभिहस्यम्**=शरीर व बुद्धि दोनों दृष्टिकोणों से (अभि) विकासवाला (हस्) **कृणोषि**=करता है, अतः **त्वत् अन्यः**=तुझसे भिन्न **वनानि**=वृक्षों को **आरात् वृक्षि**=दूर-दूर तक काट डालता हूँ। २. हे शमि! **त्वम्**=तू अब **शतवल्शा विरोह**=सैकड़ों शाखाओंवाली होती हुई विशिष्टरूप से प्रादुर्भूत हो।

भावार्थ—शमीवृक्ष का रस मानव शक्तियों के विकास के लिए उपयोगी है, अतः शमीवृक्ष के आसपास के अन्य वृक्षों को काटकर इसके विकास के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**शमी**॥ छन्दः—**चतुष्पदाशङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

'केशवर्धनकारी' शमीरस

बृह॑त्पलाशे॒ सुभ॑गे॒ वर्ष॑वृद्ध॒ ऋता॑वरि।
मा॒तेव॑ पुत्रेभ्यो॑ मृड॒ केशे॑भ्यः शमि॥ ३॥

१. हे **शमि**=शमीवृक्ष! तू **केशेभ्यः**=बालों के लिए उसी प्रकार **मृड**=सुख करनेवाली हो, **इव**=जैसे **माता पुत्रेभ्यः**=माता पुत्रों को सुखी करती है। माता पुत्रों की वृद्धि का कारण बनती है, तू बालों को बढ़ानेवाली हो। २. तू **बृहत् पलाशे**=बढ़े हुए पत्तोंवाली है, **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यशाली—शरीर को सुन्दर बनानेवाली **वर्षवृद्धे**=वृष्टिजल से वृद्धि को प्राप्त हुई-हुई व **ऋतावरि**=जलवाली है—रसवाली है।

भावार्थ—शमीवृक्ष का रस बालों का इसप्रकार वर्धन करता है, जैसे माता पुत्रों का वर्धन करती है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

गौ-पृश्निः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्व ∫ः॥ १॥

१. **अयम्**=यह—गतसूक्त के अनुसार यवादि सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला व्यक्ति **गौः**=(गच्छति) क्रियाशील होता है, **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्—नि० २.१४) ज्ञान-ज्योति का स्पर्श करनेवाला होता है। यह **आ अक्रमीत्**=समन्तात् अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला होता है। यह **मातरम्**=वेदमाता को **पुरः**=सदा अपने सामने स्थापित करके उसकी प्रेरणा के अनुसार **असदत्**=गतिवाला होता है। आगमदीप-दृष्ट मार्ग से ही गति करता है। २. इसप्रकार शास्त्र प्रमाणक बनकर—शास्त्र विधान के अनुसार कार्यों को करता हुआ यह **स्वः पितरम्**=उस प्रकाशमय पिता प्रभु की ओर **प्रयन्**=जानेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनें, ज्ञानी बनें। वेद के अनुसार कर्म करते हुए प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

महिषः

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्य ∫ ख्यन्महिषः स्व ∫ः॥ २॥

१. **प्राणात्**=प्राण से और **अपानतः**=अपान से, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा **अस्य**=इस साधक के **अन्तः**=अन्दर-हृदयदेश में **रोचना**=दीप्ति **चरति**=विचरती है। प्राणायाम द्वारा इसका अन्तःकरण दीप्त हो उठता है। २. यह **महिषः**=प्रभुपूजन करनेवाला साधक **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को **व्यख्यत्**=देखता है। यह ज्ञानदीप्त हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा दीप्त हृदयदेश में प्रभु की ज्योति को देखनेवाले बनें।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वाक् पतङ्गः

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ३॥

१. यह **वाक्**=प्रभु के नामों व स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला **पतङ्गः**=(पतन गच्छति) स्फूर्ति से क्रियाओं को करनेवाला साधक **अशिश्रियत्**=(श्री सेवायाम्) प्रभु का उपासन करता है और **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **अहः द्युभिः**=दिन की दीप्तियों से, न कि रात्रि के अन्धकारों से **त्रिंशद्धाम**=तीसों धाम—आठों प्रहर **विराजति**=देदीप्यमान होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, क्रियाशील बनें। यही चमकने का मार्ग है। प्रकाशमय जीवन में पाप नहीं होते।

विशेष—यह यज्ञमय जीवनवाला पुरुष अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रवृत्त हुआ-हुआ रोगकृमियों का संहार करनेवाला 'चातन' कहलाता है। स्वस्थ एवं शान्त वृत्तिवाला बनकर यह 'अथर्वा' न डाँवाडोल होता है। अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि 'चातन' है, तीसरे का 'अथर्वा'।

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्निहोत्र द्वारा रक्षोदहन

अन्तर्दावे जुहुता स्वे ३ तद्यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद्रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥ १॥

१. **अन्तः दावे**=अग्नि में **एतत्**=इस **यातुधानक्षयणम्**=पीड़ाकर रोग-कृमियों को नष्ट करनेवाली हवि को **घृतेन**=घृत के साथ **सुजुहुत**=सम्यक् आहुत करो। २. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **त्वम्**=तू **रक्षांसि**=रोगकृमियों को **आरात् प्रतिदह**=सुदूर दग्ध कर दे और इसप्रकार **नः गृहाणाम्**=हमारे घरों का **न उपतीतपासि**=सन्तापक नहीं होता है। अग्नि रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमारे घरों को स्वस्थ वातावरणवाला बनाता है।

भावार्थ—हम अग्नि में घृत के साथ कृमिनाशक हविर्द्रव्यों को आहुत करें। यह अग्नि रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमें सुखी करेगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

रोगकृमि-विनाश

रुद्रो वो ग्रीवा अशैरत्पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद्वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत्॥ २॥

१. हे **पिशाचाः**=हमारे मांस को खा जानेवाले रोगकृमियो! **रुद्रः**=इस रोगद्रावक यज्ञाग्नि ने **वः ग्रीवाः**=तुम्हारी गर्दनों को **अशरैत्**=हिंसित किया है। हे **यातुधानाः**=यातना देनेवाले कृमियो! यह यज्ञाग्नि **वः**=तुम्हारी **पृष्टीः अपि शृणातु**=पसलियों को भी तोड़ दे। २. **विश्वतो वीर्या वीरुत्**=यह अनन्तवीर्य—रोगों को कम्पित करने की शक्तिवाली—लतारूप ओषधि **वः**=तुम रोगकृमियों को **यमेन सम् अजीगमत्**=मृत्यु के साथ सङ्गत करे—तुम्हें समाप्त करनेवाली हो।

भावार्थ—यज्ञाग्नि रोगकृमियों को ध्वंस करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ज्ञान, ऐक्य, अजय्यता', मिथो विघ्राना उपयन्तु मृत्युम्

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्राना उप यन्तु मृत्युम्॥ ३॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्य भावो! **इह**=यहाँ **नः**=हमारे राष्ट्र में **अभयम् अस्तु**=निर्भयता हो, किसी प्रकार के शत्रु के आक्रमण का भय न हो। ये मित्र और वरुण—सब प्रजाओं का परस्पर एक्य और अविद्वेष **अर्चिषा**=तेजस्विता की ज्वाला से **अत्रिणः**=हमें खा जानेवाले शत्रुओं को **प्रतीचः नुदतम्**=पराङ्मुख करके भगा दें। प्रजाओं का परस्पर ऐक्य राष्ट्र को प्रबल व तेजस्वी बनाता है। उस तेज की ज्वाला में शत्रु भस्म हो जाते हैं। राष्ट्र में ऐक्य होने पर शत्रु आक्रमण का साहस ही नहीं करते। २. हमारे शत्रु **ज्ञातारं मा विदन्त**=ज्ञानी को मत प्राप्त करें—इन्हें कोई ज्ञानी नेता ही उपलब्ध न हो, **मा प्रतिष्ठाम्**=ये प्रतिष्ठा को प्राप्त न करें। इन्हें विजय का सम्मान प्राप्त न हो। ये **मिथः विघ्नानाः**=परस्पर एक-दूसरे को विहत करते हुए **मृत्युम् उपयन्तु**=मृत्यु को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम में एक्य हो। यह ऐक्य हमें शत्रुओं के लिए अजय्य बना दे। हमारे शत्रु

परस्पर लड़ते-झगड़ते स्वयं समाप्त हो जाएँ। इन्हें कोई ज्ञानी, एकता का बल प्राप्त करानेवाला नेता न मिले।

विशेष—शत्रुओं का संघात करनेवाला यह व्यक्ति 'जाटिकायन' बनता है (जट संघाते)। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

वनं 'स्व'

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्व ∫ः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥ १॥

१. **यस्य इन्द्रस्य**=जिस सर्वशक्तिमान् शत्रुविद्राक प्रभु की **रजः**=रञ्जक ज्योति **तुजे**=शत्रुओं के हिंसन के लिए **आयुजः**=(आयोजयति) हमें सन्नद्ध करती है—जिसके तेज से हम शत्रु-संहार करने में समर्थ होते हैं, उस इन्द्र का **इदं स्वः**=यह निरतिशय सुख-साधक तेज, हे **जनाः**=लोगो! **रन्त्यम्**=रमणीय है, **बृहत्**=परिवृढ़—बढ़ा हुआ है, **वनम्**=वननीय (सेवनीय) है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम प्रभु के रमणीय तेज को धारण करें। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर हम शत्रु-संहार में समर्थ हों।

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुधर्षक बल

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः॥ २॥

१. वह इन्द्र **न आधृषे**=औरों से अभिभूत नहीं होता, **आदधृषते**=यह शत्रुओं को समन्तात् धर्षण करनेवाला होता है, **धृषाणः**=यह शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है ही। **धृषितः**=(धृषितं) **शवः**=इसका बल शत्रुओं का धर्षक है (धृषितं अस्य अस्ति)। २. **इन्द्रस्य**=इस शत्रु-संहारक प्रभु का **श्रवः**=ज्ञान **पुरा यथा**=पहले की भाँति, अर्थात् सदा से **व्यथिः**=शत्रुओं को पीड़ित करनेवाला है। प्रभु का ज्ञान हमारे सब शत्रुओं का संहारक है। वस्तुतः उस प्रभु का **शवः**=बल **न आधृषे**=कभी भी शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु के बल को धारण करते हैं और इसप्रकार शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होते।

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'उरुं पिशंगसन्दृशं' रयिम्

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसन्दृशम्। इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा॥ ३॥

१. **सः**=वह इन्द्र **नः**=हमारे लिए **तां रयिम्**=उस ज्ञानरूप धन को **ददातु**=दे जोकि **उरुम्**=विशाल है, **पिशङ्ग-सन्दृशम्**=तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाला है। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **पतिः**=हमारे रक्षक हैं—ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराके हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाते हैं। **तुविःतमः**=सब प्रकार के उत्कर्षवाले हैं—महान् व प्रवृद्ध हैं। **जनेषु आ**=सब मनुष्यों में समन्तात् सत्तावाले हैं।

भावार्थ—वे 'तुविःतमः' प्रभु 'विशाल, तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाले' हमारे लिए ज्ञानधन प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

विशेष—ज्ञान-धन प्राप्त करके सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला यह व्यक्ति 'चातन' नामवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स नः पर्षद् अति द्विष

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

१. हे स्तोतः! **अग्नये**=राक्षसीवृत्तियों को भस्म करनेवाले अग्रणी प्रभु के लिए **वाचम् ईरयः**=स्तुतिलक्षण वाणी को प्रकर्षेण प्रेरित कर। उस प्रभु के लिए जो **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के लिए **वृषभाय**=सब शुभ काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की सब भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार ले-जाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। वे प्रभु ही हमें आगे ले-चलनेवाले तथा सब शुभ पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें द्वेष की भावनाओं से पार करेगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु की तीव्र ज्ञान-ज्योति में द्वेषान्धकार का विलय

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तिग्मेन शोचिषा**=बड़ी तीव्र ज्ञानदीप्ति से रक्षांसि **निजूर्वति**=राक्षसीवृत्तियों को नष्ट करते हैं, २. **यः**=जो प्रभु **परस्याः परावतः**=अत्यन्त दूर देश से **धन्व तिरः**=(धन्व=अन्तरिक्ष—नि० १.३) अन्तरिक्ष को भी पार करके **अतिरोचते**=अतिशयेन देदीप्यमान हैं, ३. **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों व लोकों को **अभि-विपश्यति**=आभिमुख्येन अलग-अलग देखता है **च**=तथा **संपश्यति**=मिलकर देखता है, अर्थात् वे प्रभु एक-एक प्राणी का अलग-अलग भी रक्षण करते हैं और समूहरूप में भी रक्षण करते हैं। ४. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अस्य रजसः पारे**=इस लोकसमूह से परे **शुक्रः अजायत**=देदीप्यमान शुद्धस्वरूप में प्रादुर्भूत हो रहे हैं '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**', **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः अतिपर्षत्**=द्वेष की सब भावनाओं से पार करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, सर्वत्र प्रभु की ज्योति को देखें, उसे ही सबका पालक जानें, उसे ही इस ब्रह्माण्ड से परे शुद्ध ज्योति के रूप में सोचें। यह स्मरण हमें द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठाएगा।

विशेष—द्वेष से ऊपर उठकर प्रभु का आलिङ्गन करनेवाला यह 'कौशिक' बनता है (कुश संश्लेषे)। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वैश्वानर-स्तवन

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **परावतः**=सुदूर देश से **आ प्रयातु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो। हम प्रभु के सान्निध्य में अपने को पूर्ण सुरक्षित समझें। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी **सुस्तुतीः उप**=शोभन स्तुतियों को समीपता से स्वीकार करें।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए, प्रभु के सान्निध्य में अपने को पूर्णतया सुरक्षित जानें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

यज्ञ+स्तवन

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप। अग्निरुक्थेष्वंहसु॥ २॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हितकारी वह प्रभु **नः आगमत्**=हमें प्राप्त हो। वह प्रभु **इमं यज्ञम् उप**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त होकर **सजूः**=हमारे प्रति प्रीतिवाला हो। हम प्रभु के प्रीतिपात्र बन पाएँ। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **अंहसु**=(अहि गतौ) अभिगन्तव्य **उक्थेषु**=स्तोत्रों के होने पर हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ, प्रभु का स्तवन करें। हमें अवश्य उस वैश्वानर प्रभु का प्रेम प्राप्त होगा।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

द्युम्नं स्वः

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्। एषु द्युम्नं स्व ∫र्यमत्॥ ३॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले वे प्रभु **अङ्गिरसाम्**=क्रियामय जीवनवाले ज्ञानी पुरुषों के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **च**=तथा **उक्थम्**=उच्चै गीयमान ज्ञानवाणियों को **चाक्लृपत्**=खूब ही सामर्थ्ययुक्त करते हैं। २. **एषु**=इन ज्ञानियों में वे प्रभु ही **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को तथा **स्वः**=स्वर्ग-सुख को **आयमत्**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों को शक्तिशाली बनाते हैं। वे हमें ज्ञान व सुख प्राप्त कराते हैं।

विशेष—प्रभु-स्तवन द्वारा ज्ञान प्राप्त करके यह ज्ञानी 'अथर्वा' बनता है—न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

अजस्र घर्मम्

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे॥ १॥

१. **ऋतावानम्**=प्रशस्त यज्ञोंवाले (ऋत=यज्ञ), **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हितकारी, **ऋतस्य**=(Right) नियमितता के व **ज्योतिषः**=ज्ञानज्योति के **पतिम्**=रक्षक प्रभु से **अजस्रं घर्मम्**=हमें न छोड़ जानेवाले—सदा हमारे साथ रहनेवाले तेज को **ईमहे**=माँगते हैं। वस्तुतः इस 'अजस्र घर्म' की प्राप्ति का उपाय यही है कि हम भी 'यज्ञशील, सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त तथा भौतिक क्रियाओं में सूर्य-चन्द्र की भाँति नियमिततावाले तथा ज्ञान की रुचिवाले' बनें। ऐसा बनने पर ही शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और हमें 'अजस्र घर्म' की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जो यज्ञरूप हैं, सबका हित करनेवाले हैं, लोक-लोकान्तरों को नियमितता से ले-चल रहे हैं, ज्ञान के पति हैं। इसप्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए

हम 'अक्षीण शक्ति' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

लोक, ऋतु व यज्ञ

स विश्वा॒ प्रति॑ चाक्लृप ऋ॒तूंरुत्सृ॑जते व॒शी। य॒ज्ञस्य॒ वय॑ उत्ति॒रन्॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **विश्वा**=सब लोक-लोकान्तरों को **प्रतिचाक्लृपे**=बनाते हैं, **वशी**=सबको वश में करनेवाले वे प्रभु **ऋतून् उत्सृजते**=ऋतुओं का उत्कृष्ट सर्जन करते हैं, अर्थात् वे प्रभु ही सब स्थानों (लोकों) व समयों (ऋतून्) का निर्माण करते हैं। २. **यज्ञस्य वयः उत्तिरन्**=यज्ञ के आयुष्य का वर्धन करते हैं, यज्ञशील पुरुषों को दीर्घजीवन देते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब लोकों व ऋतुओं का निर्माण करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में यज्ञशील पुरुष के आयुष्य का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

एकः सम्राट्

अ॒ग्निः परे॑षु धाम॑सु॒ कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य। स॒म्राडेको॒ वि रा॑जति॥ ३॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **परेषु धामसु**=उत्कृष्ट तेजों में स्थित हैं अथवा दूर-से-दूर स्थानों में व्याप्त हैं। वे ही **भूतस्य**=उत्पन्न जगतों के और **भव्यस्य**=उत्पस्यमान (उत्पन्न होनेवाले) लोगों के **कामः**=कामयिता हैं—'काम संकल्प' द्वारा जन्म देनेवाले हैं। २. वे **सम्राट्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं, **एकः**=अद्वितीय हैं और **विराजति**=विशेषण दीप्यमान हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दूर-से-दूर स्थानों में भी व्याप्त हैं। उत्पन्न और उत्पत्स्यमान जगतों को काम-संकल्प द्वारा जन्म देनेवाले हैं। वे अद्वितीय सम्राट हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हैं।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहस्राक्षः शपथः

उप॒ प्रागा॑त्सहस्रा॒क्षो यु॒क्त्वा श॒पथो॒ रथ॑म्।
श॒सा॒र॑मन्वि॒च्छन्म॒म॒ वृ॒कऽइ॒वावि॑मतो गृ॒हम्॥ १॥

१. जिस समय अपशब्द कहनेवाला पुरुष किसी के लिए अपशब्द का प्रयोग करता है तब वह उसके सहस्रों दोषों को देखनेवाला बनता है—मानो सहस्रों आँखों से उसके दोषों को ढूँढने के लिए यत्नशील होता है, अतः आक्रोश को 'सहस्राक्ष' कहा गया है। यह **सहस्राक्षः शपथः**=सहस्रों आँखोंवाला आक्रोश (अपशब्द) **रथं युक्त्वा**=अपने रथ को जोतकर **उपप्रागात्**=शाप देनेवाले के समीप ही पहुँचता है। जैसे एक योद्धा रथ-स्थित होकर शत्रु पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार यह शपथ रथ-स्थित होकर शाप देनेवाले की ओर जाता है। २. यह शपथ **मम**=मुझे **शसारम्**=शाप देनेवाले को **अन्विच्छन्**=ढूँढता हुआ उस शसा के घर में ऐसे ही पहुँचे, **इव**=जैसेकि **वृकः**=भेड़िया भेड़ को ढूँढता हुआ **अविमतः गृहम्**=भेड़वाले के घर में पहुँचता है।

भावार्थ—जैसे भेड़िया भेड़ को समाप्त कर देता है, उसीप्रकार शाप शाप देनेवाले को ही समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शाप से उत्तेजित न होना

परि॑ णो वृङ्ग्धि शपथ ह्र॒दम॒ग्निरि॑वा॒ दह॑न्।
श॒प्तार॒मत्र॑ नो जहि दि॒वो वृ॒क्षमि॑वा॒शनि॑ः॥ २॥

१. हे **शपथ**=आक्रोश! तू **नः**=हमें इसप्रकार **परिवृङ्ग्धि**=छोड़ दे, **इव**=जैसेकि **आदहन्**=समन्तात् जलाने की क्रिया करता हुआ **अग्निः**=अग्नि **ह्रदम्**=जलपूर्ण तालाब को छोड़ देता है। हम भी शापरूप अग्नि के लिए शान्तिजल से पूर्ण ह्रद के समान हों। दूसरों के शब्दों से उत्तेजित न हो उठें। २. हे शाप! तू **नः शप्तारम्**=हमें शाप देनेवाले को ही **अत्र**=यहाँ **जहि**=नष्ट करनेवाला बन। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **दिवः अशनिः**=आकाश की बिजली **वृक्षम्**=वृक्ष को नष्ट कर देती है। शाप से शाप देनेवाला ही दग्ध हो जाए।

भावार्थ—हम शाप से उत्तेजित न हो उठें। शाप शाप देनेवाले को ही दग्ध कर देगा।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शुने पेष्ट्रम् इव अवक्षामम्

यो न॒ः शपा॒दश॑पतः॒ शप॑तो॒ यश्च॑ न॒ः शपा॑त्।
शुने॒ पेष्ट्रं॒मि॒वाव॑क्षाम॒ं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑॥ ३॥

१. समाज में कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित हो जाता है जो समाज के लिए हानिकर होता है। कई बार विवशता में समाज उसके लिए निन्दा का प्रस्ताव उपस्थित करता है। उस समय के लिए कहते हैं कि **यः**=जो **अशपतः**=किसी प्रकार के शाप का प्रयोग न करते हुए **नः शपात्**=हमें शाप देता है **च**=अथवा **यः**=जो **शपतः**=विवशता में निन्दा का प्रस्ताव करनेवाले **नः**=हमें **शपात्**=बुरा-भला कहता है, तो **शुने**=कुत्ते के लिए **अवक्षामम्**=सूखे **पेष्ट्रम्**=(piece) टुकड़ों की **इव**=भाँति **तम्**=उसे **मृत्यवे प्रत्यस्यामि**=मृत्यु के लिए फेंकता हूँ, अर्थात् यह गाली देनेवाला व्यक्ति सारे समाज से दूषित किये जाने पर क्षीण होकर मृत्यु का शिकार हो जाता है।

भावार्थ—जो सारे समाज के लिए विद्वेष का कारण बनता है, यह समाज से निन्दित किया जाकर उदासीनता के कारण क्षीण होकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिंहे, सूर्ये

सिं॒हे व्या॒घ्र उ॒त या पृदा॑कौ॒ त्विषि॑र॒ग्नौ ब्रा॑ह्म॒णे सूर्ये॒ या।
इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना॥ १॥

१. **सिंहे**=शेर में **व्याघ्रे**=चीता में **उत**=और **या त्विषिः**=जो तेजस्विता की दीप्ति **पृदाकौ**=फुँकार मारते हुए सर्प में है। **या**=जो दीप्ति **अग्नौ**=अग्नि में है, **ब्राह्मणे**=ज्ञानदीप्त ब्राह्मण में है तथा **सूर्ये**=सूर्य में है। २. **या**=जो **देवी**=दिव्य, अलौकिक **सुभगा**=उस-उस पिण्ड व प्राणी को सौभाग्ययुक्त बनानेवाली दीप्ति **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जजान**=प्रादुर्भूत करती है, **सा**=वह दीप्ति **नः वर्चसा संविदानः**=हमें वर्चस् (प्राणशक्ति) से युक्त करती हुई **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। '**मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्**' इस गीता-वाक्य में सिंह को पशुओं में प्रभु की विभूति कहा गया है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ कुछ असाधारण दीप्ति दिखती है, वह प्रभु का स्मरण कराती ही

है, '**यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥**' यह दीप्ति हमें भी प्राप्त हो। हम भी प्रभु की विभूति बनें।

भावार्थ—सिंह, व्याघ्र, पृदाकु, अग्नि, ब्राह्मण व सूर्य में जो प्रभु की दीप्ति है, वह हमें वर्चस् से युक्त करती हुई प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हस्तिनि—पुरुषस्य मायौ

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ २॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ३॥
राजन्ये ऽदुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ४॥

१. **या त्विषिः**=जो दीप्ति **हस्तिनि**=गजेन्द्र में, **द्वीपिनि**=तरक्षु (चीते) में है, **या**=जो दीप्ति **हिरण्ये**=स्वर्ण में है, जो **अप्सु**=जलों में, **गोषु**=गौओं में **या**=जो **पुरुषेषु**=पुरुषों में दीप्ति है। २. जो दीप्ति **रथे**=रथ में है, **अक्षेषु**=रथ के अक्षों (Axles) में है तथा **ऋषभ्यस्य वाजे**=ऋषभ (साँड) के वेगयुक्त गमन में है, जो दीप्ति **वाते**=वायु में है, **पर्जन्ये**=मेघ में है, **वरुणस्य शुष्मे**=जो दीप्ति सूर्य के प्रखर ताप में है—सूर्य के सुखानेवाले ताप में है। ३. जो दीप्ति **राजन्ये**=अभिषिक्त राजा के पुत्र (राजन्य) में है, जो दीप्ति **दुन्दुभौ आयतायाम्**=आयम्यमान—आताड्यमान दुन्दुभि में है जो दीप्ति **अश्वस्य वाजे**=घोड़े के वेगयुक्त गमन में है और जो **पुरुषस्य मायौ**=पुरुष की उच्चैर्घोषलक्षण शब्द में है—४. यह सब दीप्ति वह है **या**=जोकि **देवी**=दिव्य है, **सुभगा**=हमें उत्तम सौभाग्यशाली बनाती है और यह दीप्ति अपने निर्माता **इन्द्रम्**=इन्द्र देवता की महिमा को **जजान**=प्रादुर्भूत करती है। **सा**=वह दीप्ति **वर्चसा संविदाना**=रोगनिवारक शक्ति (Vitality) के साथ ऐकमत्यवाली होती हुई **नः ऐतु**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रभु-दीप्ति से उज्ज्वल हो। यह दीप्ति हमें वर्चस् प्राप्त कराती हुई प्रभु के समीप प्राप्त कराए।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

दीर्घजीवन व सर्वश्रेष्ठता

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम्।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये॥ १॥

१. **यशः**=यश की कारणभूत **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति **वर्धताम्**=हमारे जीवनों में वृद्धि प्राप्त करे। हम त्यागपूर्वक अदन-(खाने)-वाले बनें और इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। यह हवि **इन्द्रजूतम्**=प्रभु द्वारा प्रेरित की गई है—प्रभु ने त्यागपूर्वक अदन की प्रेरणा दी है। यह हवि **सहस्रवीर्यम्**=हमें अनन्त शक्ति प्राप्त कराती है, **सुभृतम्**=(शोभनं भृतं येन) यह हमारा उत्तम भरण करती है, **सहस्कृतम्**=बल के उद्देश्य से यह दी गई है—यह शत्रुओं का पराभव करानेवाला बल देती है। २. हे प्रभो! **अनु**=इस हवि के वर्धन के बाद **हविष्मन्तं मा**=प्रशस्त

हविवाले मुझ **प्रसर्स्राणम्**=खूब गतिशील को **दीर्घाय चक्षसे**=चिरकालभावी दर्शन के लिए—दीर्घजीवन के लिए तथा **ज्येष्ठतातये**=सर्वश्रेष्ठ्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। हवि को अपनाता हुआ मैं दीर्घजीवन और सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमें त्यागपूर्वक अदन की प्रेरणा दी है। यह हवि ही हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है और हमें सर्वश्रेष्ठ बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यशस्वी जीवन

अच्छा॑ न॒ इन्द्रं॑ य॒शसं॒ यशो॑भिर्यश॒स्विनं॑ नमसा॒ना वि॑धेम।
स नो॑ रास्व रा॒ष्ट्रमिन्द्र॑जूतं॒ तस्य॑ ते रा॒तौ य॒शसः॑ स्याम॥ २॥

१. **नः अच्छ**=हमारे आभिमुख्येन वर्त्तमान **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, **यशसम्**=यशस्वी, **यशोभिः यशस्विनम्**=यशों के द्वारा हमारे जीवनों को यशस्वी बनानेवाले प्रभु को **नमसानाः**=नमन करते हुए **विधेम**=पूजित करते हैं। २. हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **इन्द्रजूतम्**=परमैश्वर्यशाली आपके द्वारा प्रेरित **राष्ट्रं रास्व**=राष्ट्र दीजिए, अर्थात् हमारा राष्ट्र वेदोपदिष्ट आपकी आज्ञाओं के अनुसार सञ्चालित हो। **तस्य ते**=उन आपके **रातौ**=दान में हम **यशसः स्याम**=यशस्वी जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम यशस्वी प्रभु का स्मरण करें। हमारा राष्ट्र प्रभु से दिये गये निर्देशों के अनुसार सञ्चालित हो। प्रभु-प्रदत्त इस राष्ट्र में हम यशस्वी जीवनवालें हों।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशस्तमः

य॒शा इन्द्रो॑ य॒शा अ॒ग्निर्य॒शाः सोमो॑ अजायत।
य॒शा विश्व॑स्य भू॒तस्या॒हमस्मि य॒शस्त॑मः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=सूर्य **यशाः**=यशस्वी है, **अग्निः यशाः**=अग्नि यशस्वी है, **सोमः यशाः**=चन्द्रमा यशस्वी **अजायत**=हुआ है। सूर्य अपने तेज से तेजस्वी हुआ है (ज्योतिषां रविरंशुमान्), अग्नि सदा अपनी ज्वाला की ऊर्ध्वगति के कारण प्रसिद्ध है (वसूनां पावकश्चास्मि)। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना उसे यशस्वी बना रही है (नक्षत्राणामहं शशी)। २. इसीप्रकार **अहम्**=मैं **यशाः**=यश की कामनावाला होता हुआ **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों में **यशस्तमः अस्मि**=सर्वाधिक यशस्वी बनूँ। सूर्य से तेज को, अग्नि से ऊर्ध्वगति को, चन्द्र से प्रकाशमयी शीतलता को ग्रहण करता हुआ मैं यशस्वीतम बन पाऊँ।

भावार्थ—हम सूर्य के समान तेजोदीप्त बनें। अग्नि के समान ऊर्ध्व गतिवाले हों, चन्द्र के समान आह्लादक ज्योति को धारण करें। इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अभय

अभ॑यं द्यावापृथिवी इ॒हास्तु॒ नोऽ भ॑यं॒ सोम॑ः सवि॒ता नः॑ कृणोतु।
अभ॑यं नोऽस्तू॒र्वन्तरि॑क्षं सप्तऋषी॒णां च॑ ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु॥ १॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक! तुम दोनों के अनुग्रह से **इह**=यहाँ **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=अभय हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता व शरीर की

दृढ़ता हमारे जीवन को निर्भय बनाती है। **सोमः सविता**=चन्द्र और सूर्य **नः अभयं कृणोतु**=हमारे लिए अभयता करें। चन्द्रमा के समान हमारा मन मंगलदायक हो (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) तथा सूर्य के समान हमारी आँख ज्योतिर्मय हो (सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्)। २. **नः**=हमारे लिए **उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल हृदयाकाश **अभयम्**=निर्भयता देनेवाला हो। हमारे हृदय संकुचित न हों, **च**=और **सप्तऋषीणाम्**=सप्तर्षियों (दो कान, दो आँख, दो नासिका-छिद्र व मुख) की **हविषा**=हवि के द्वारा—देकर बचे हुए को खाने के द्वारा **नः**=हमारे लिए **अभयं अस्तु**=निर्भयता हो। सदा यज्ञशेष का सेवन इन सप्तर्षियों को सदा नीरोग रखता है। इनका स्वास्थ्य ही हमें मृत्यु-भय से बचाता है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से उज्ज्वल हो, शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो, मन चन्द्रमा के समान शीतल, बुद्धि सूर्य के समान तेजोदीप्त तथा हृदय अन्तरिक्ष के समान विशाल हो। हमारी इन्द्रियाँ हवि का ग्रहण करनेवाली बनें—यज्ञशेष का सेवन करती हुई ये इन्द्रियाँ नीरोग हों। इसप्रकार हमें 'अभय' प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सवितः इन्द्रः

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्त्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्रिन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः॥ २॥

१. **नः अस्मै ग्रामाय**=हमारे निवासस्थानभूत इस ग्राम के लिए **सविता**=सबका उत्पादक वह प्रभु **प्रदिशः चतस्त्रः**=चारों दिशाओं में **सुभूतम्**=सुष्ठु उत्पन्न—उत्तमता से उत्पन्न हुए-हुए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को और उसके द्वारा **स्वस्ति**=कल्याण को **कृणोत**=करे। हमारे राष्ट्र में पौष्टिक अन्न की कमी न हो। २. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **नः**=हमारे लिए **अशत्रुः**=शत्रुओं के आक्रमण-भय से शून्य **अभयम्**=निर्भयता को कृणोतु करे। **राज्ञाम्**=शत्रुभूत राजाओं का **मन्युः**=क्रोध अन्यत्र **यातु**=हमसे भिन्न स्थान में ही प्राप्त हो। कोई भी राजा हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर पाए।

भावार्थ—सवितादेव के अनुग्रह से हमारे राष्ट्र में पौष्टिक अन्न की कमी न हो तथा इन्द्र की कृपा से हमारा राष्ट्र शत्रुओं के आक्रमण के भय से रहित हो।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनमित्रम्

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्। इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **नः**=हमारे लिए **अधरात्**=दक्षिण दिशा में **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य **कृधि**=कीजिए, **नः**=हमारे लिए **उत्तरात्**=उत्तर दिशा से **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य करने का अनुग्रह कीजिए। २. हे इन्द्र! **नः**=हमारे लिए **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य करनेवाले होओ तथा **पुरः**=सामने से—पूर्व दिशा से भी **अनमित्रम्**=अशत्रुता करने का अनुग्रह **कृधि**=कीजिए।

भावार्थ—इन्द्र के अनुग्रह से हमें सब दिशाओं से निर्भयता व अशत्रुता प्राप्त हो। किसी भी दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो।

विशेष—सब दिशाओं में अशत्रु बना हुआ यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

मनसे-चक्षसे

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ १॥

१. **मनसे**=मनन के उत्तम साधनभूत मन के लिए, **चेतसे**=ज्ञान के साधनभूत चेतस् के लिए, **धिये**=ध्यान-साधन एकाग्र बुद्धि के लिए, **आकूतये**=संकल्प के लिए **उत**=और **चित्तये**=अतीत आदि विषय-स्मृति हेतु चिति के लिए **वयम्**=हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=प्रभु का पूजन करते हैं। २. **मत्यै**=आगामी विषयों के ज्ञान की जननीभूत मति के लिए, **श्रुताय**=श्रवणजनित ज्ञान के लिए तथा **चक्षसे**=चाक्षुष ज्ञान के लिए हम हवि के द्वारा प्रभुपूजन करते हैं।

भावार्थ—दानपूर्वक अदन, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन तथा प्रभु-पूजन हमें 'मन, चेतस्, धी, आकूति, चिति, मति, श्रुत व चक्षस्' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सरस्वत्या-उरुव्यचे

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्॥ २॥

१. **अपानाय**=मुख-नासिका से बहिर् विनिर्गत वायु का फिर अन्तःप्रवेश अपानन व्यापार कहलाता है, इस अपान के लिए, **व्यानाय**=ऊर्ध्व व अधोवृत्ति के त्याग से उस वायु का शरीर में ठहरना 'व्यान' कहलाता है, उस व्यान के लिए तथा शरीरस्थ वायु का मुख-नासिका से बहिर् निर्गमन प्राण कहलाता है, उस **भूरिधायसे**=बहुत प्रकार से—खूब ही धारण करनेवाले **प्राणाय**=प्राण के लिए **वयम्**=हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=प्रभु का पूजन करते हैं। **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता के लिए तथा **उरुव्यचे**=हृदय की खूब व्यापकता के लिए भी हम हवि के द्वारा प्रभुपूजन करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशेष के सेवन तथा प्रभुपूजन से हमारे 'प्राण, अपान, व्यान' ठीक कार्य करेंगे, हमारा ज्ञान बढ़ेगा और हृदय विशाल होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त ऋषयः

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्व ⌠ स्तनूजाः।
⌡
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ ३॥

१. **ये**=जो **दैव्याः**=देवों में होनेवाले अथवा देव (प्रभु) की प्राप्ति के साधनभूत **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा सात शरीरस्थ ऋषि हैं, वे **नः**=हमें **मा**=मत **हासिषुः**=छोड़नेवाले हों। वे 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें, एक मुख'—सात ऋषि **ये**=जो **तनूपाः**=शरीर का रक्षण करनेवाले हैं, वे **नः तन्वः**=हमारे शरीर से ही **तनूजाः**=शरीर-सम्बन्धी इन्द्रियों के रूप में उत्पन्न होनेवाले हैं। २. हे **अमर्त्याः**=अमर्त्य ऋषियो! **मर्त्यान् नः**=मरणधर्मा हम लोगों को **अभिसचध्वम्**=अभितः प्राप्त होओ और **नः जीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन के लिए **प्रतरं आयुः**=दीर्घजीवन को **धत्त**=धारण

कराओ।

भावार्थ—शरीरस्थ सात इन्द्रियाँ ही सप्तर्षि हैं। ये हममें स्थित हों और हमें दीर्घजीवन प्रदान करें।

४२. [द्वाचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अवज्याम् इव धन्वनः

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑याविव॒ सचा॑वहै॥ १॥

१. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **धन्वनः**=धनुर्दण्ड से **ज्याम् इव**=जैसे आरोपित ज्या (डोरी) को धानुष्क अवरोपित करता—उतारता है, उसीप्रकार **ते हृदः**=तेरे हृदय से **मन्युम्**=क्रोध को **अवतोनिम**=अपनीत करता—दूर करता हूँ। २. **यथा**=जिससे हम दोनों **संमनसौ**=समान मनवाले **भूत्वा**=होकर—परस्पर अनुरागयुक्त हुए-हुए **सखायौ इव**=समान ख्यानवाले मित्रों की भाँति **सचावहै**=समवेत—संगत होकर एक कार्यकारी बनें।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर क्रोधशून्य व अनुरागयुक्त होकर समान कार्य को करनेवाले हों—मिलकर कार्य की पूर्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अधः ते अश्मनः मन्युम्

सखा॑याविव सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते।
अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गु॒रुः॥ २॥

१. हम दोनों **सखायौ इव**=समान ख्यानवाले मित्रों की भाँति **सचावहै**=मिलकर समानरूप से कार्य करनेवाले बनें। मैं **ते मन्युम् अवतनोमि**=तेरे क्रोध को उसी प्रकार अवतत (उतारा हुआ) करता हूँ, जैसे धनुष से डोरी को उतारते हैं। २. हे क्रुद्ध मनुष्य! **ते**=तेरे **मन्युम्**=क्रोध को उस **अश्मनः अधः**=पत्थर के नीचे **उपास्यामसि**=फेंकते हैं **यः गुरुः**=जो पत्थर भारी होने के कारण हिलाया भी नहीं जा सकता।

भावार्थ—हम क्रोध को एक भारी पत्थर के नीचे दबा दें। यह क्रोध हम तक फिर न आ सके। हम परस्पर प्रेमयुक्त होते हुए एक-दूसरे के कार्य की पूर्ति करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा अवशाः न वादिषः

अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पाष्ण्र्या॒ प्रप॑देन च।
यथा॑व॒शो न वादि॑षो॒ मम॑ चि॒त्तमुपा॑यसि॥ ३॥

१. मैं **ते मन्युम्**=तेरे क्रोध को **पाष्ण्र्या**=पैर के अपरभग से—एड़ी से **च**=तथा **प्रपदेन**=पादाग्र से **अभितिष्ठामि**=ऊपर स्थित होकर निष्पीड़ित कर डालता हूँ। २. **यथा**=जिससे **अवशः**=क्रोध के परवश हुआ-हुआ तू **न वादिषः**=ऊटपटाँग बोलनेवाला न हो और **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे मन को तू समीपता से प्राप्त होता है—मेरे मन के अनुकूल मनवाला होता है।

भावार्थ—हम क्रोध को पैर की ठोकर से ठुकरा दें। क्रोध के परवश होकर कटुवचन न बोलें। हम एक-दूसरे से मिलें हुए चित्तवाले हों।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विमन्युकः 'दर्भः'

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते॥ १॥

१. **अयं दर्भः**=यह कुशा (घास) **स्वाय च**=अपनों के लिए भी **च अरणाय**=और शत्रुओं के लिए भी **विमन्युकः**=क्रोधापनयन का हेतु है—इष्टजनविषयक व अनिष्टजनविषयक क्रोध को शान्त करता है, अथवा इष्टजनों व अनिष्टजनों से किये गये क्रोध को शान्त करता है। २. **मन्योः**=मन्युमान् शत्रुभूत पुरुष का तथा **विमन्युकस्य**=मन्युरहित—आपाततः क्रोधाविष्ट आत्मीय पुरुष का **अयम्**=यह दर्भ **मन्युशमनः**=क्रोध को शान्त करनेवाला **उच्यते**=कहा जाता है। सम्भवतः इसीलिए यज्ञवेदि पर कुश के प्रयोग को महत्त्व दिया गया है।

भावार्थ—दर्भ का प्रयोग क्रोध को शान्त करनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूरिमूलः दर्भः

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते॥ २॥

१. **अयं यः**=यह जो सामने **भूरिमूलः**=अनेक मूलों से युक्त—भूमि पर फैल जानेवाला **दर्भः**=दर्भ **समुद्रम् अवतिष्ठति**=(समुद्द्रवन्त्यस्मादापः) उदकभूयिष्ट देश को आक्रान्त करके स्थिर होता है। यह **पृथिव्याः उत्थितः**=पृथिवी से उत्पन्न हुआ-हुआ दर्भ **मन्युशमनः उच्यते**=क्रोधविनाश का हेतु कहा जाता है।

भावार्थ—समुद्र के किनारे उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुश मन्युशमन कहा गया है। इसका प्रयोग शान्ति देनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हनव्यां मुख्यां शरणिं विनयामसि

वि ते हनव्यां ∫ शरणिं ते मुख्यां नयामसि।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि॥ ३॥

१. हे क्रोधाविष्ट पुरुष! **ते हनव्याम्**=तेरी हनु सम्बन्धी **शरणिम्**=हिंसा-हेतुभूत क्रोधाभिव्यञ्जक धमनि को **विनयामसि**=विनीत करते हैं—दूर करते हैं, तथा **ते**=तेरी **मुख्याम्**=मुख पर उत्पन्न होनेवाली, क्रोधवश उत्पन्न नाड़ी को भी **वि**=विनीत करते हैं, २. **यथा**=जिससे **अवशः**=क्रोध के परवश हुआ-हुआ तू **न वादिषः**=व्यर्थ नहीं बोलता और **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे मन को समीपता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—दर्भ के प्रयोग से हम क्रोधाविष्ट के क्रोध को शान्त करें, जिससे यह व्यर्थ न बोलता हुआ अनुकूल मनवाला हो।

विशेष—क्रोधशून्य जीवनवाला यह व्यक्ति सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। इसका शरीर भी नीरोग है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तिष्ठाद्रोगः अयं तव

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद्रोगो अयं तव॥ १॥

१. **द्यौः अस्थात्**=ग्रह-नक्षत्रमण्डलोपेत यह द्युलोक स्थित है, नीचे गिरता नहीं। **पृथिवी अस्थात्**=यह सर्वाधारभूत पृथिवी स्थित है। **इदं विश्वं जगत् अस्थात्**=यह परिदृश्यमान जङ्गम प्राणिसमूह स्थित है। २. ये **ऊर्ध्वस्वप्नः**=खड़े-खड़े ही सोते हुए **वृक्षाः अस्थुः**=वृक्ष भी स्थित हैं। **अयं तव रोगः**=यह तेरा रोग भी **तिष्ठात्**=निवृत्त गतिवाला होता जाए (ष्ठा गतिनिवृत्तौ) न बहे, न बढ़े अपितु निवृत्त हो जाए।

भावार्थ—वैद्य रोगी को प्रेरणा देता है कि द्युलोक, पृथिवीलोक, सब जगत् और ये वृक्ष भी स्थित हैं, तेरा रोग भी अभी स्थित हो जाता है, निवृत्त गतिवाला हो जाता है। यह आगे बढ़ता नहीं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्रेष्ठम् आस्त्रावभेषजम्

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम्॥ २॥

१. हे व्याधित! **ते**=तेरी **या**=जो **शतम्**=सैकड़ों **च**=और **सहस्रम्**=हज़ारों **भेषजानि**=रोगशामक ओषधियाँ **संगतानि**=प्राप्त हुई हैं, उनमें 'विषाणका' [अगले मन्त्र में वर्णित] ओषधि **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है, प्रशस्ततम है। यह **आस्त्रावभेषजम्**=रक्तस्राव की निवर्तक है **वसिष्ठम्**=वासयितृतम है—रुधिर के आस्राव को रोककर तुझे उत्तमता से बसानेवाली है, और **रोगनाशनम्**=रोग को नष्ट करनेवाली है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

विषाणका वातीकृतनाशनी

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी॥ ३॥

१. हे विषाणके! तू **रुद्रस्य**=(रोदयति) इस रुलानेवाले भीषण रोग की **मूत्रम् असि**=(मुच् ष्ट्रन) छुड़ानेवाली है; **अमृतस्य नाभिः**=हमारे जीवनों में नीरोगता को बाँधनेवाली है (णह बन्धने)। **विषाणका नाम वा असि**='विषाणका' यह निश्चय से तेरा नाम है। तू विशेषेण सम्भजनीया है (षण सम्भक्तौ)। २. **पितॄणां मूलात् उत्थिता**=पालक ओषधियों के मूल से तू उत्पन्न हुई है, **वातीकृतनाशनी**=वातविकार से होनेवाले सब कष्टों का निवारण करनेवाली है।

भावार्थ—विषाणका नामक ओषधि भीषण रोगों से छुड़ानेवाली, नीरोगता देनेवाली व वात-विकारों को नष्ट करनेवाली है।

विशेष—नीरोग बनकर यह 'अङ्गिराः' बनता है। इसका मस्तिष्क भी ज्ञानोज्ज्वल होता है, अर्थात् यह 'प्रचेताः' कहलाता है, मन में यह 'यमः'=संयमवाला होता है। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है। यह निष्पाप जीवनवाला बनता हुआ कहता है—

४५. [पञ्चचत्वरिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

गृहेषु गोषु मे मनः

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ १॥

१. हे **मनस्पाप**=मन के पाप! मन में उत्पन्न होनेवाले पाप-विचार! तू **परः अप इहि**=यहाँ से परे—दूर चला जा, **किम्**=क्यों तू **अशस्तानि**=अशुभ बातों को **शंससि**=प्रशंसित करता है। २. **परा इहि**=तू दूर ही चला जा। **त्वा न कामये**=मैं तुझे नहीं चाहता। **वृक्षान् वनानि संचर**=तू वृक्षों व वनों में भटकनेवाला हो, **मे मनः**=मेरा मन तो **गृहेषु**=घरों में—घर के कार्यों में और **गोषु**=गौओं में अथवा ज्ञान की वाणियों में लगा हुआ है। मुझे तेरे लिए अवकाश नहीं है।

भावार्थ—हे अशुभ का शंसन करनेवाले मनस्पाप! तू मुझसे दूर चला जा। मेरा मन तो घर के कार्यों व गौओं में लगा है। मुझे तेरे लिए अवकाश नहीं। खाली व्यक्ति के मन में ही अशुभ भावों का उदय होता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्नाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

अवशसा, निःशसा, पराशसा

अवशसा निःशसा यत्परा॒शसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥ २॥

१. **अवशसा**=(शसु हिंसायाम्) अवस्तात् हिंसन से—चुपके-चुपके हिंसन से, **निःशसा**=नितरां हिंसन से, **पराशसा**=पराङ्मुख हिंसन से—सुदूर असाक्षात् रूप से हिंसन से **यत् उपारिम्**=हम जो पाप कर बैठते हैं, **जाग्रतः**=जागते हुए और **स्वपन्तः यत्**=सोते हुए जो पाप कर बैठते हैं, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु उन **विश्वानि**=सब **अजुष्टानि**=अशोभन, प्रीतिपूर्वक न सेवन किये गये **दुष्कृतानि**=पापों को **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर **अपदधातु**=पृथक् करके स्थापित करे।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम हिंसाकृत सब पापों से बचे रहें। जागते व सोते हम प्रभुस्मरण करते हुए पापों से बचे रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रचेताः आङ्गिरसः

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम **यत् अपि**=जो कुछ भी **मृषा**=असत्य **चरामसि**=आचरण कर बैठते हैं, **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **आङ्गिरसः**=शक्तिसम्पन्न आप **नः**=हमें उस **दुरितात्**=दुःख-प्रापक **अंहसः**=पाप से **पातु**=बचाएँ।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम पापों से ऊपर उठें।

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मतीविष्टारपङ्क्तिः**॥

स्वप्न का स्वरूप

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भो ऽसि स्वप्न।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि॥ १॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **यः**=जो तू **न जीवः असि**=न तो जीवित है, **न मृतः**=न ही मृत है—प्राणधारक भी नहीं है, त्यक्तप्राण भी नहीं है। तू **देवानाम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृभूत अग्नि आदि देवों का **अमृतगर्भः असिः**=अमृतमय गर्भ है। यह स्वप्न जाग्रदवस्था के इन्द्रिजन्य अनुभवों से जनित वासनाओं से उत्पन्न होता है और वासनाएँ स्थयी हैं, अतः यह स्वप्न भी सदा से चला ही आता है। २. **वरुणानि**=(रात्रिर्वरुणः—ऐ० ४.१०, वारुणी रात्रिः—तै० १.७.१०.१) रात्रि **ते माता**=तेरी माता है। प्रायः रात्रि में सोने पर ही स्वप्नों का क्रम आरम्भ होता है। **यमः पिता**=शरीर का नियन्ता आत्मा ही तेरा पिता है। आत्मा के शरीर में होने पर ही ये स्वप्न होते हैं, अतः आत्मा को इनका पिता कहा गया है। **अररुः नाम असि**='अररु' तेरा नाम है। तू (ऋ गतौ) तीव्र गतिवाला—क्षणस्थायी है।

भावार्थ—शरीरस्थ आत्मा रात्रि के समय स्वप्नों का अनुभव करता है। ये स्वप्न न वास्तविक हैं, न ही एकदम काल्पनिक। इन्द्रियों के व्यापारों से उत्पन्न संस्कार इसे सदा जन्म देनेवाले होते हैं। यह बड़ी तीव्र गतिवाला है। क्षण में ही कहीं-का-कहीं जा पहुँचता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भापञ्चपदाजगती**॥

अन्तकः असि, मृत्युः असि

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रो ऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽ सि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ २॥

१. **स्वप्न**=स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे जन्म को जानते हैं। तू **देवजामीनां पुत्रः असि**=इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभवजन्य वासनाओं का पुत्र है। तू **यमस्य करणः**=यम का सबसे महान् साधन है। [ऐतरेय आरण्यक ३.२.४ में कहा है—अथ स्वप्नः। **'पुरुषं कृष्णं कृष्णादन्तं पश्यति, स एनं हन्ति'**—कई स्वप्न मृत्यु का कारण हो जाते हैं]। **अन्तकः असि**=तू अन्तः करनेवाला है, **मृत्युः असि**=मृत्यु ही है। २. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझे **सं विद्म**=पहले कहे हुए प्रकार से सम्यक् जानते हैं। हे **स्वप्न**=स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात्**=दुःस्वप्नजनित भय से **पाहि**=रक्षित कर।

भावार्थ—स्वप्न इन्द्रियजनित अनुभवों से होनेवाली वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। ये शरीर में विकृति लाकर मृत्यु का कारण भी बन जाते हैं। हम दुःस्वप्नों से बचे ही रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा कलां तथा शफम्

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।
एवा दुःष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **कलाम्**=एक-एक कला करके—सोलहवाँ भाग करके **यथा शफम्**=जैसे आठवाँ भाग करके **यथा ऋणम्**=जैसे सारे ऋण को **संनयन्ति**=चुका देते हैं, **एव**=इसीप्रकार **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=दुःस्वप्नजनित सब भय को **द्विषते**=द्वेष करनेवाले मनुष्य के लिए **सं नयामसि**=प्राप्त कराते हैं। हमारे शत्रु ही दुःष्वप्नों को प्राप्त करें।

भावार्थ—जैसे थोड़ा-थोड़ा करके सारा ऋण उतर जाता है, उसी प्रकार हम गाढ़निद्रा का अभ्यास करके स्वप्नों को शत्रुओं के पास भेज देते हैं।

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गायत्रं प्रातःसवनम्

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥

१. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **प्रातःसवने**=जीवन के प्रातःसवन में—गायत्र-सवन में **अस्मान् पातु**=हमारा रक्षण करे। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **विश्वकृत्**=सम्पूर्ण संसार का निर्माण करनेवाले, **विश्वशंभूः**=दुःख-शमन द्वारा सम्पूर्ण जगत् में शान्ति स्थापित करनेवाले **सः**=वे **पावकः**=पवित्र करनेवाले प्रभु **नः**=हमें **द्रविणे दधातु**=धन में धारण करें। २. इन धनों के द्वारा हम **आयुष्मन्तः**=दीर्घजीवनवाले व **सहभक्षाः स्याम**=मिलकर खानेवाले—मिलकर भोजन करनेवाले—अकेले न खानेवाले बनें।

भावार्थ—जीवन के प्रातःसवन में हम प्रभु को 'अग्नि व पावक', आगे ले-चलनेवाले व पवित्र करनेवाले के रूप में देखें। हम आगे बढ़ें, जीवन को पवित्र बनाएँ। हम सबका हित करनेवाले, निर्माणात्मक कर्मों में प्रवृत्त व शान्त बनें। धनों का सद्विनियोग करते हुए दीर्घजीवी व मिलकर भोजन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्

विश्वेदेवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्द्वितीये सवने न जह्युः।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

१. **अस्मिन् द्वितीये सवने**=इस दूसरे माध्यन्दिन सवन में **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण, **मरुतः**=प्राण, **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता **अस्मान् न जह्युः**=हमें न छोड़ें। इस गृहस्थ जीवनरूप माध्यन्दिन सवन में हम दिव्य गुणों को धारण करें, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करें। २. ऐसा करते हुए **वयम्**=हम **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले **एषाम्**=इन देवों—मरुत् व इन्द्र के विषय में **प्रियं वदन्तः**=प्रीतिकर बातों को कहते हुए **देवानाम्**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों की **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों—इनकी प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हों।

भावार्थ—गृहस्थ जीवन में हम दिव्य गुणों के धारण का सङ्कल्प लें, प्राणायाम करनेवाले हों, जितेन्द्रिय बनने का यत्न करें। प्रशस्त दीर्घजीवनवाले देवों, मरुतों व इन्द्र के विषय में प्रिय बातों को बोलते हुए 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' की प्रेरणा के अनुसार चलें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**सुधन्वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जागतं तृतीयसवनम्

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्व ∫ रानशानाः स्वि ∫ ष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

१. **इदम्**=यह **तृतीयं सवनम्**=तृतीय जागत सवन **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी पुरुषों का है, **ये**=जो **चमसम्**=इस शरीररूप पात्र को **ऋतेन**=सत्य से ही—यज्ञ से ही **ऐरयन्तः**=प्रेरित करते हैं। जीवन के तृतीय सवन में ये वानप्रस्थ व संन्यस्त पुरुष पूर्ण सत्य का आचरण व यज्ञ करने-

वाले होते हैं। २. **ते सौधन्वनाः**=वे उत्तम ओंकाररूप धनुष को अपनानेवाले—प्रणव का जाप करनेवाले **स्वः आनशानाः**=प्रकाश को व्याप्त करते हुए ज्ञानी पुरुष **नः**=हमें **स्विष्टिम्**=उत्तम यज्ञ की **अभि**=ओर **नयन्तु**=ले-चलें तथा इन यज्ञों के द्वारा **वस्यः**=प्रशस्त वसु की ओर ले-चलें।

भावार्थ—जीवन के तृतीय सवन में ज्ञानी पुरुष ऋत को अपनाकर, प्रणव का जाप करते हुए, प्रकाश को प्राप्त कराके हमें यज्ञों व वसुओं की ओर ले-चलनेवाले हों।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

श्येन, ऋभु, वृषा

श्येनो ऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वारभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ १॥
ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ २॥
वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वारभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ ३॥

१. जीवन के प्रातःसवन में तू **श्येनः असि**=(श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः) खूब ही ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। **गायत्रच्छन्दाः**=तू गायत्र छन्दवाला है (गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामनावाला है। **त्वा अनु आरभे**=तेरा लक्ष्य करके मैं जीवन की क्रियाओं को आरम्भ करता हूँ। मेरी सब क्रियाएँ उस गायत्र सवन को सम्यक् पूर्ण करने की दृष्टि से होती हैं। (क) हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **अस्य यज्ञस्य उदृचि**=इस प्रातःसवन नामक यज्ञ की अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् समाप्ति तक **स्वस्ति संवह**=सम्यक् कल्याण प्राप्त कराइए। इसके लिए मैं **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

२. **ऋभुः असि**=(ऋतेन भाति) तू सत्य वेदज्ञान से दीप्त जीवनवाला है। इस तृतीय सवन में तू **जगच्छन्दः**=सम्पूर्ण जगती के हित की कामनावाला हुआ है। **त्वा अनु आरभे**=मैं तेरा लक्ष्य करके ही जीवन की क्रियाओं को आरम्भ करता हूँ। (ख) आप मुझे इस सवन की अन्तिम ऋचा तक कल्याणपूर्वक ले-चलिए। मैं आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

३. **वृषा असि**=तू शक्ति व सुखों का सेचन करनेवाला है, **त्रिष्टुप्छन्दाः**=जीवन के इस माध्यन्दिन (त्रैष्टुभ छन्दवाले)-सवन में तू 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की कामनावाला है। **त्वा अनु आरभे**=तेरा लक्ष्य करके मैं जीवन की सब क्रियाओं को करता हूँ। (ग) हे प्रभो! आप मुझे इस यज्ञ की समाप्ति तक कल्याणपूर्वक ले-चलिए। मैं आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—जीवन के प्रातःसवन में हम श्येन—खूब ही ज्ञान की रुचिवाले व प्राणरक्षण की इच्छावाले हों। माध्यन्दिन सवन में 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकने की इच्छावाले तथा अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले हों। तृतीय सवन में ज्ञानी बनकर ज्ञान-प्रसार द्वारा जगती के हित में प्रवृत्त हों। प्रभुकृपा से हमारे तीनों सवन पूर्ण हों।

विशेष—जो मनुष्य ज्ञान के निगरण से जीवन का प्रारम्भ करता है (ब्रह्मचारी=ज्ञान को चरनेवाला) और ज्ञानोपदेश में ही जीवन के अन्तिम भाग को लगाता है (गिरति=उपदिशति) वह गर्ग व गर्ग-पुत्र 'गार्ग्य' कहलाता है। यह गार्ग्य ही अगले सूक्त का ऋषि है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कपिः बभस्ति तेजनम्

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव॥ १॥

१. **अग्ने**=हे तेजस्विन् प्रभो! **मर्त्यः**=वह मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **तन्वः**=इस शरीर के **क्रूरम्**=(कृत्) कर्तन व छेदन को **नहि आनंश**=नहीं प्राप्त करता, जो **कपिः**=(कं पिबति) शरीरस्थ रेतःकणरूप जल को पीनेवाला—शरीर में ही खपानेवाला तथा **तेजनम्**=(तेज=to protect) रक्षा के महान् साधन इस वीर्य को **बभस्ति**=(बभस्तिरत्तिकर्मा—नि० ५.१२) शरीर में उसी प्रकार निगीर्ण करनेवाला होता है **इव**=जैसे **गौः**=एक गौ **स्वं जरायु**=अपने जेर को निगीर्ण कर लेती है। निगरण के कारण ही यह 'गार्ग्य' कहलाता है।

भावार्थ—हम उत्पन्न वीर्य को शरीर में ही खपानेवाले बनें। इससे शरीर का कर्तन व छेदन नहीं होगा। यह वीर्य 'तेजन' है, हमारा रक्षण करनेवाला है।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सात्त्विक जीवन

मेषइव वै सं च वि चोर्व च्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून्बभस्ति हरितेभिरासभिः॥ २॥

१. **मेषः इव**=स्पर्धावाले की भाँति—उन्नति-पथ पर औरों से आगे बढ़ जाने की स्पर्धावाला वीर्य-रक्षक तू **सम् अच्यसे**=औरों के साथ मिलकर चलता है **च**=और **वै उरु च**=खूब ही विशाल **वि अच्यसे**=विविध गतियोंवाला होता है। इस वीर्यरक्षक पुरुष के जीवन में उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने की स्पर्धा होती है। यह औरों के साथ मिलकर गतिवाला होता है। इसके विविध कार्य विशालता से युक्त होते हैं। **यत्**=क्योंकि **उत्तर-द्रौ**=(उत्तर=जीव, द्रु=शरीर-वृक्ष) इसके इस जीव-शरीर में यह स्वयं **च**=तथा **उपरः**=मेघ भी **खादतः**=खाते हैं। यह अकेला नहीं खाता, यह यज्ञ करता हुआ मेघों को भी जन्म देनेवाला होता है—'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। २. **शीर्ष्णा**=सिर के दृष्टिकोण से यह **शिरः**=शिखर पर पहुँचता है और **अप्ससा अप्सः**=आकृति से तो यह सौन्दर्य ही होता है (अप्सस=from, beauty) **अंशून्**=ज्ञान की रश्मियों की **अर्दयन्**=याचना करता हुआ यह **हरितेभिः आसभिः**=रोग-हरण की भावनाओं के साथ तथा वासनाओं को परे फेंकने की भावनाओं के साथ **बभस्ति**=खाता है। भोजन खाते हुए इसका दृष्टिकोण यही होता है कि यह उसे नीरोगता व निष्पापता देनेवाला हो।

भावार्थ—संसार में हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने की स्पर्धावाले बनें। सदा यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करें। ज्ञान के दृष्टिकोण से शिखर पर तथा तेजस्वी, सुन्दर आकृतिवाले हों। ज्ञान की याचना करें। भोजन इस दृष्टिकोण से करें कि यह हमें नीरोगता देनेवाला हो तथा सात्त्विकता को उत्पन्न करके यह वासनाओं को हमसे दूर रक्खे।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥

सुपर्णा

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः॥ ३॥

१. **सुपर्णाः**=गतमन्त्र में वर्णित उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **उप द्यवि वाचम् अक्रत**=उस ज्योतिर्मय प्रभु के समीप आसीन हुए-हुए स्तुति-वाणियाँ बोलते हैं। **आखरे**=अपने निवास-स्थान में **कृष्णाः**=अच्छाइयों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले **इषिराः**=ये गतिशील व्यक्ति **अनिर्तिषुः**=अपने कर्त्तव्यकर्मों में नृत्य करते हैं—प्रभु की उपासना के द्वारा अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए ये सदा गतिशील होते हैं। २. **यत्**=जब ये **नि**=निश्चय से यज्ञों के द्वारा **उपरस्य**=मेघ की **निष्कृतिम्**=उत्पत्ति (सम्पादन) को **नियन्ति**=प्राप्त होते हैं, तब ये **सूर्यश्रितः**=ज्ञान के सूर्य का सेवन करनेवाले उपासक **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाले **रेतः**=शक्तिकणों को **दधिरे**=धारण करते हैं। यज्ञों द्वारा ये मेघों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं और ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हुए शक्ति-कणों को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम उत्तमता से अपना पालन व पूरण करें—प्रभु की उपासना करें—कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहें। यज्ञों के द्वारा मेघों के निर्माण में भागी बनें। ज्ञान-साधना में प्रवृत्त हुए-हुए शक्ति का रक्षण करें।

विशेष—इस सूक्त का 'गार्ग्यः' चूहों आदि से यव-क्षेत्रों का रक्षण करता हुआ तथा यवादि सात्त्विक अन्नों का भोजन करता हुआ 'अथर्वा' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

चूहों का विनाश

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्या ∫ य ॥ १ ॥

१. हे **अश्विना**=कृषि-कर्म में व्याप्त स्त्री-पुरुषो! (अश व्याप्तौ) **तर्दम्**=हिंसक **समंकम्**=(समञ्चनं बिलं संप्रविश्य गच्छन्तम्) बिल में प्रवेश करके रहनेवाले **आखुम्**=चूहे को **हतम्**=विनष्ट करो, **शिरः छिन्तम्**=इसके सिर को काट डालो, **पृष्टीः अपि शृणितम्**=पार्श्व-अस्थियों को भी चूर्णीभूत कर दो। २. यह चूहा **यवान्**=क्षेत्र उत्पन्न यवों को **न इत् अदान्**=न खा जाए, अतः हे अश्विनौ! आप **मुखम्**=इसके मुख को **अपिनह्यतम्**=बाँध दो और **अथ**=ऐसा करके अब **धान्याय**=व्रीहि-यवादिरूप धान्य के लिए **अभयं कृणुतम्**=निर्भयता कीजिए।

भावार्थ—खेती के विनाशक चूहों को नष्ट करना ठीक ही है। धान्य-रक्षण के लिए इनका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

इमान् यवान् अहिंसन्तः

तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान्यवानहिंसन्तो अपोदित ॥ २ ॥

१. **है तर्द**=हे हिंसक जन्तो! **है पतङ्ग**=हे टिड्डीदल! है **जभ्य**=हे हिंसा के योग्य **उपक्वस**=रेंगनेवाले कीट! **इव**=जैसे **ब्रह्मा**=ब्रह्मा **असंस्थितं हविः**=असंस्कृत हवि नहीं लेता, उसी प्रकार तुम **इमान् यवान्**=इन यवों को **अनदन्तः**=न खाते हुए **अहिंसन्तः**=इन्हें किसी प्रकार हिंसित न करते हुए **अप उद् इत**=इस स्थान से दूर चले जाओ।

भावार्थ—धान्यरक्षक लोग कृषिनाशक जन्तुओं से कृषि को बचाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

तर्दापते, वघापते

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे।
य आरण्या व्य ∫ द्वरा ये के च स्थ व्य ∫ द्वरास्तान्त्सर्वाञ्जम्भयामसि॥ ३॥

१. **तर्दापते**=हे चूहे आदि हिंसकों के स्वामिन्! हे **वघापते**=(अवघ्नन्तीति वघाः) कृषिनाशक पतङ्ग आदि के स्वामिन्! **तृष्टजम्भाः**=तीक्ष्ण दाँतोंवाले तुम **मे आशृणोत**=मेरी इस बात को सुनो। **ये**=जो तुम **आरण्याः**=जङ्गल में होनेवाले **व्यद्वराः**=विविधरूप से यवादि को खा जानेवाले हो **च**=और **ये के**=जो कोई ग्राम्य भी **व्यद्वराः**=विविध अदनशील प्राणी हो, **तान् सर्वान्**=उन सबको **जम्भयामसि**=हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—कृषिनाशक चूहों व टिड्डीदलों को समाप्त करना ही ठीक है।

विशेष—यवादि सात्त्विक भोजनों को करता हुआ यह रोगों व वासनाओं को शान्त करता हुआ 'शन्ताति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

सोम

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १॥

१. **वायोः**=(वातः प्राणो भूत्वा०) प्राणसाधना द्वारा **पूतः**=पवित्र हुआ-हुआ तथा **पवित्रेण**=(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) ज्ञान के द्वारा—ज्ञान साधना—निरन्तर स्वाध्याय द्वारा **प्रत्यङ्**=(प्रतिमुखम् अञ्चन्) वापस शरीर में गतिवाला होता हुआ **सोमः**=शरीर में उत्पन्न रेतःकण **अतिद्रुतः**=नाभिदेश को लाँघकर ऊर्ध्व गतिवाला होता है। सोम-रक्षण के प्रमुख साधन हैं—प्राणायाम और स्वाध्याय। २. यह सुरक्षित सोम **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **युज्यः सखा**=परमात्म-प्राप्ति का साधनभूत मित्र है। सोम-रक्षण द्वारा बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण व ऊर्ध्वगमन के लिए हम प्राणसाधना व स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का रक्षण करेंगे तो यह हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएगा।

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आपः

आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्व ∫ः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥ २॥

१. **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **मातरः**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। ये **अस्मान्**=हमें **सूदयन्तु**=(क्षालयन्तु पापरहितान् शुद्धान् कुर्वन्तु-सा०) पापरहित व शुद्ध जीवनवाला बनाएँ, **घृतेन**=ज्ञान-दीप्ति के द्वारा **घृतप्वः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीपन द्वारा पवित्र करनेवाले ये रेतःकण **नः पुनन्तु**=हमें पवित्र करें। २. **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले व रोगों को पराजित करने की कामनावाले रेतःकण **हि**=निश्चय से **विश्वम्**=सब **रिप्रम्**=दोषों को **प्रवहन्ति**=बहा ले-जाते हैं—धो डालते हैं। **आभ्यः**=इन रेतःकणरूप जलों से **शुचिः**=पवित्र बना

हुआ **आ पूतः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पवित्र हुआ-हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमें शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। सब दोषों से शून्य होकर मैं ऊपर उठता हूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वरुण

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! हम **मनुष्याः**=मनुष्य **यत् किंच**=जो कुछ **इदं अभिद्रोहम्**=यह द्रोह-जनित पाप **दैव्ये जने**=देव-सम्बन्धी प्राणियों के विषय में **चरन्ति**=कर बैठते हैं अथवा **चेत्**=यदि **अचित्त्या**=नासमझी से **तव धर्मा**=आपके नियमों का **युयोपिम**=व्यामोह—विपर्यास करते हैं तो हे **देव**=हमारे पापों को जीतने की कामनावाले प्रभो! **नः**=हमें **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए।

भावार्थ—अज्ञानवश हमसे त्रुटियाँ हो जाती हैं। प्रभु हमें प्रेरणा प्राप्त कराके उन पापों से बचाएँ। हम उन पापों के शिकार न हो जाएँ।

विशेष—प्रभु-प्रेरणा से ज्ञान-दीप्ति (भा) प्राप्त करके पापों को परे फेंकनेवाला (be removed गल्) पापों से दूर रहनेवाला यह व्यक्ति 'भागलि' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

अथ चतुर्दशः प्रपाठकः

५२. [द्विपञ्चाशः सूक्तम्]

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यः

उत्सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्। आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

१. **सूर्यः**=सबको कर्मों में प्रेरक यह सूर्य **पुरः**=सामने—पूर्व दिशा में **रक्षांसि**=हमारे शरीर में उपद्रव करनेवाले रोगकृमियों को **निजूर्वन्**=नितरां हिंसित करता हुआ **दिवः उत् एति**=अन्तरिक्ष-प्रदेश से उदित होता है। २. वह **आदित्यः**=भूपृष्ठ से जलों का आदान करनेवाला सूर्य **पर्वतेभ्यः**=मेघों के लिए उदित होता है। जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता हुआ यह सूर्य मेघों की उत्पत्ति का कारण बनता है। यह **विश्वदृष्टः**=सब प्राणियों से देखा जाता है, और **अदृष्टहा**=अदृष्ट रोगकृमियों का भी विनाशक है।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों का संहार करता है। यह मेघों के निर्माण में कारण बनता है।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तर्मुख-यात्रा

नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत। न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सूर्य-सम्पर्क से स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति के जीवन में **गावः**=इन्द्रियाँ **गोष्ठे**=शरीररूप गोष्ठ में **नि असदन्**=निश्चय से स्थित होती हैं। ये विषयों में भटकती नहीं रहतीं। अब **मृगासः**=ये आत्मान्वेषण की वृत्तिवाले व्यक्ति **नि अविक्षत**=हृदयान्तरिक्ष में ही प्रवेश

करनेवाले होते हैं। २. इन **नदीनाम्**=प्रभु का स्तवन करनेवालों की **ऊर्मयः**='शोकमोहौ क्षुत्पिपासे जरामृत्यू षड्ऊर्मयः'—छह ऊर्मियाँ, अर्थात् जीवन-समुद्र में उठनेवाली शोक-मोह, भूख-प्यास, जरा व मृत्युरूप छह तरङ्गें **नि अदृष्टाः**=निश्चय से अदृष्ट हो जाती हैं। इनके जीवन में ये छह तरङ्गें नहीं उठतीं। ये तो **नि अलिप्सत**=निश्चय से उस आत्मतत्त्व को ही पाने की कामनावाले होते हैं।

भावार्थ—स्वस्थ पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकतीं। ये आत्मान्वेषक हृदयान्तरिक्ष में प्रवेश करते हैं। इनके जीवन समुद्र में शोक-मोह आदि की तरङ्गें नहीं उठतीं। ये निश्चय ही प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं।

ऋषिः—**भागलिः**॥ देवता—**भेषजम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वभेषजी वीरुध

आयुर्ददे विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान्नि शमयत्॥ ३॥

१. **कण्वस्य**=मेधावी पुरुष की इस **आयुर्ददम्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाली **विपश्चितम्**=रोग-शमनोपाय को जाननेवाली **श्रुताम्**=प्रसिद्ध **विश्वभेषजीम्**=सब रोगसमूहों को शान्त करनेवाली **वीरुधम्**=विविध उन्नतियों की कारणभूत इस वेदज्ञानरूप वल्ली को मैं **आभारिषम्**=प्राप्त करता हूँ। २. लाकर प्रयुज्यमान यह वीरुत् **अस्य**=इस रोग के **अदृष्टान्**=शरीर-मध्यवर्ती द्रष्टुमशक्य रोगों को भी **निशमयत्**=शान्त करे।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करें और सब रोगों को अपने से दूर करें। इस वेदविद्या को विश्वभेषजी जानें।

विशेष—विश्वभेषजी वेदविद्या द्वारा पूर्ण नीरोग बना हुआ यह व्यक्ति 'बृहच्छुक्रः' अतिशयित वीर्यवाला—शक्तिशाली होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः**॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

जीवन को उत्तम बनानेवाली दस बातें

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्दक्षिणया पिपर्तु।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च॥ १॥

१. **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे**=मेरे लिए **इदम्**=इस अभिलषित फल को दें। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक दोनों ही क्रमशः दीप्त व दृढ़ हों। इसप्रकार ये मुझे इष्ट जीवन प्राप्त कराएँ। ये मेरे लिए **प्रचेतसौ**=प्रकृष्टज्ञान का साधन बनें। २. **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **शुक्रः**=वीर्य **दक्षिणया**=दान की वृत्ति के साथ **पिपर्तु**=मेरा पालन व पूरण करे। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं मस्तिष्क व शरीर का उत्तम विकास करता हुआ ज्ञानी बनूँ तो गृहस्थ में वीर्य को नष्ट न करता हुआ दान की वृत्तिवाला बनूँ। ३. अब वानप्रस्थ में **स्वधा**=आत्मतत्त्व का धारण **सोमः**=सौम्यता व **अग्निः**=आगे बढ़ने की भावना **अनु चिकिताम्**=अनुकूल ज्ञान को देनेवाली हों। ४. अन्त में **वायुः**=(वा गतौ) निरन्तर क्रियाशीलता **सविता**=सूर्य की भाँति प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त करना **च**=और **भगः**=(भज सेवयाम्) प्रभु-उपासन **नः पातु**=हमारा रक्षण करे।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम मस्तिष्क व शरीर का विकास करें। गृहस्थ में वीर्य का रक्षण

करते हुए दान की वृत्तिवाले बनें। वानप्रस्थ में आत्मतत्त्व की धारणा, सौम्यता व आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अन्त में निरन्तर क्रियाशील, प्रकाशदायी, उपासनामय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः**॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पुनः

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा॥ २॥

१. प्रतिदिन **पुनः**=फिर से **प्राणः**=प्राण **नः**=हमें **आ एतु**=प्राप्त हो। पुनः फिर से **आत्मा**=मन हमें प्राप्त हो। **पुनः**=फिर से **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति **नः आ एतु**=हमें प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **असुः**=शरीर से मलों को परे फेंकने की शक्ति प्राप्त हो (अस क्षेपणे)। २. **वैश्वानरः**=(अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥) जाठराग्नि **नः**=हमारे **अन्तः**=अन्दर **विश्वा दुरितानि**=रोगनिदानभूत सब विकारों को **तिष्ठाति**=निवृत्त गतिवाला करता है। जाठराग्नि के ठीक होने पर रोग उत्पन्न नहीं होते। यह अग्नि **अदब्धः**=रोगादियों से हिंसित नहीं होता, यह **तनूपाः**=शरीर का रक्षक है।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन प्राणशक्ति, मन, चक्षु, अपानशक्ति तथा रोगों को उत्पन्न न होने देती हुई जाठराग्नि प्राप्त हो।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः**॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वर्चस् व शिव-मन

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो ३ यद्विरिष्टम्॥ ३॥

१. हम **वर्चसा**=शरीरगत दीप्ति से **पयसा**=देहावस्थिति-निमित्त पयोवत् सारभूत रस से **सम्**=सङ्गत हों। **तनूभिः**=शरीर के सब हस्त-पाद आदि अवयवों से **सम् अगन्महि**=सङ्गत हों तथा **शिवेन मनसा सम्**=शोभन अन्तःकरण से सङ्गत हों। २. **त्वष्टा**=वह ज्ञानदीप्त निर्माता प्रभु **नः**=हमारे लिए **अत्र**=इस जीवन में **वरीयः**=उत्तम 'सत्य, यश, श्री' को **कृणोतु**=करे। **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीर का **यत् विरिष्टम्**=जो रोगार्त अङ्ग हो, उसे **अनुमार्ष्टु**=शुद्ध कर दे।

भावार्थ—हम वर्चस्, पयस्, स्वस्थ अङ्गों व शिव मन से सङ्गत हों। प्रभु हमें उत्कृष्ट 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त कराए और सब रोगों को दूर कर दे।

विशेष—ऊँची-से-ऊँची स्थिति में पहुँचकर हम 'ब्रह्मा' बनें। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्षत्रं, श्रियं, महीम्

इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम्॥ १॥

१. **इदम्**=इस **तत् उत्तरम्**=उस उत्कृष्ट कर्म को **युजे**=अपने साथ जोड़ता हूँ, श्रेष्ठ कर्मों को ही करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'—यज्ञादि उत्तम कर्मों को ही अपनाता हूँ। उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अष्टये**=अभिमत फल की प्राप्ति के लिए **शुम्भामि**=

अपने में अलङ्कृत करता हूँ। २. हे प्रभो! आप **अस्य**=इस अपने उपासक के **क्षत्रम्**=बल को, **श्रियम्**=श्री को तथा **महीम्**=पूजा की वृत्ति को (मह पूजायाम्) इसप्रकार **वर्धय**=बढ़ाइए, **इव**=जैसेकि **वृष्टिः**=वर्षा **तृणम्**=तृण को बढ़ाती है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्मों में व्यापृत हों और प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमारे बल, धन व उपासन के भाव को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नीषोमौ

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम्। इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम्॥ २॥

१. जीवन में 'अग्नि और सोम', 'ज्योति व आपः' का समन्वय आवश्यक है। अग्नि 'अग्रता, प्रचण्डता, उत्साह, वीरता' आदि का प्रतीक है और सोम 'शान्ति व नम्रता' का। दोनों का मेल जीवन को सुन्दर बनाता है। केवल 'अग्नि' जला देगा और केवल 'सोम' ठण्डा ही कर देगा, अतः मन्त्र में कहा है कि हे **अग्नीषोमौ**=अग्नि व सोमतत्त्वो! **अस्मै**=इस साधक के लिए **क्षत्रम्**=बल को **धारयतम्**=धारण करो। **अस्मै**=इसके लिए **रयिम्**=धन को धारण करो। २. **इमम्**=इसे **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **अभिवर्गे**=मण्डल (circuit, compass) में **उत्तरं कृणुतम्**=उत्कृष्ट स्थिति में करो। प्रभु कहते हैं कि मैं इसे **युजे**=उत्कृष्ट कर्मों में लगाता हूँ। अग्नि और सोम का समन्वय हमें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—अग्नि और सोम (तीव्रता व नम्रता) का समन्वय होने पर हमें बल व ऐश्वर्य प्राप्त होता है। 'अग्नीषोमौ' का उपासक राष्ट्र में उन्नत स्थिति में होता है। प्रभु इसे उत्कृष्ट कर्मों में लगाये रखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुन्वते यजमानाय

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. **सबन्धुः**=(समानजन्मगोत्रजः) समान गोत्रवाला **च**=या **असबन्धुः च**=असमान गोत्रवाला भी **यः**=जो कोई भी शत्रु **अस्मान् अभिदासति**=हमें उपक्षीण करता चाहता है, **तं सर्वम्**=उन सबको **सुन्वते**=शरीर में सोम (वीर्य) का अभिषव करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील **मे**=मेरे लिए **रन्धयासि**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हम शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करें और यज्ञशील बनें। प्रभु के अनुग्रह से हम सब शत्रुओं को वशीभूत कर पाएँगे।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सर्वोत्तम देवयान मार्ग

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे॥ १॥

१. **ये**=जो **बहवः**=बहुत-से **देवयानः पन्थानः**=देवों के जाने योग्य (देवा यैर्यान्ति) मार्ग **द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **संचरन्ति**=(वर्तन्ते) हैं, अर्थात्

संसार में जितने भी उत्तम मार्ग हैं, **तेषाम्**=उनमें से **यतमः**=जौन-सा सबसे अधिक **अज्यानिम्**=समृद्धि को—लाभ को **वहाति**=प्राप्त कराए, **तस्मै**=उस मार्ग के लिए **सर्वे देवाः**=हे सब देवो! आप **इह**=यहाँ—इस जीवन में **मा परिधत्त**=मुझे धारण करो।

भावार्थ—हम देवयान मार्गों में भी सर्वोत्तम देवयान मार्ग से गतिवाले हों। 'द्यावापृथिवी के मध्य में' इन शब्दों में इस भाव को समझकर कि 'मध्यमार्ग' ही श्रेष्ठ है, उसी से चलने का यत्न करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गौ, प्रजा, निवात-शरण

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम॥ २॥

१. **ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः**=गर्मी, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, शरद और वर्षा—ये छह-की-छह ऋतुएँ **नः**=हमें **स्विते**=सुष्ठु प्राप्तव्य धन में व उत्तम आचरण में **दधात**=धारण करें। हम ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए उस-उस ऋतु के अनुसार ही अपनी दैनिक चर्चा को बनाएँ। २. हे ग्रीष्म आदि ऋतुओ! **नः**=हमें **गोषु प्रजायाम् आभजत**=उत्तम गौ आदि पशुओं में तथा सन्तानों में भागी बनाओ। हमारे घरों में उत्तम गौएँ हों और हम उत्तम प्रजावाले हों। हे ऋतुओ! हम **वः**=आपके **निवाते**=वातादि के उपद्रवों से रहित **शरणे इत्**=गृह में ही **स्याम**=हों—निवास करनेवाले हों।

भावार्थ—ऋतुओं के अनुकूल आचरण करते हुए हम उत्तम 'गौओं, प्रजाओं व वात आदि के उपद्रवों से शून्य' गृहोंवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इदावत्सर, परिवत्सर, संवत्सर

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ३॥

१. **चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे। सम्परीदान्विदित्येतच्छब्दपूर्वस्तु वत्सराः।** उत्पत्ति के पश्चात प्रथम वर्ष 'संवत्सर' कहलाता है, दूसरा 'परिवत्सर', तीसरा 'इदावत्सर', चौथा 'अनुवत्सर' और पाँचवां 'इदवत्सर'। तै० ब्रा० १.४.१०.१ के अनुसार—'**अग्निर्वाव संवत्सरः, आदित्यः परिवत्सरः चन्द्रमा इदावत्सरः, वायुरनुवत्सरः**'। इन **इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय**=चन्द्रमा, आदित्य व अग्नि के लिए **बृहत् नमः कृणुत**=खूब ही नमस्कार करो। चन्द्रमा के समान सदा 'शान्त व प्रसन्नचित्त' बनता। आदित्य के समान सदा 'गुणों का आदान करनेवाले व ज्योतिर्मय' बनना तथा अग्नि के समान सदा 'अग्रगतिवाले' बनना ही इनको नमस्कार करना है। २. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन चन्द्रमा, आदित्य व अग्नि की जोकि **यज्ञियानाम्**=पूजा के योग्य व संगतिकरण योग्य हैं, **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे अपि**=शोभन सौमनस्य में **स्याम**=सदा हों। चन्द्र, आदित्य, अग्नि से 'आह्लाद, ज्योति व अग्रगति' का पाठ पढ़ते हुए हम 'शुभ बुद्धि, भद्र मन व स्वस्थ शरीर' को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सर्वप्रथम अग्रगति का पाठ पढ़ें—हमारे जीवन का ध्येय 'आरोहणम्', 'आक्रमणम्' हो। फिर हम सूर्य की भाँति ज्ञान से दीप्त बनने के लिए यत्नशील हों और अपने मनों को चन्द्र की भाँति सौम्य बनाएँ। हमारे जीवन का लक्ष्य 'सुमति व भद्र

सौमनस' को प्राप्त करना हो।

विशेष—इसप्रकार जीवन का विकास करते हुए हम 'शन्ताति' बनें—शान्ति का विस्तार करनेवाले। यह शन्ताति ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

सर्पदंश कष्ट-निवारण

मा नो॑ देवा॒ अहि॑र्वधी॒त्सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान्।
संय॑तं॒ न वि ष्प॑र॒द्व्या॑त्तं॒ न सं य॑म॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=विष प्रतीकार में कुशल वैद्यो! **अहिः**=साँप **सतोकान्**=पुत्र-पौत्र आदि सन्तानोंवाले **सहपुरुषान्**=भृत्य आदि पुरुषोंसहित **नः** हमें **मा वधीत्**=हिंसित करनेवाले न हों। २. इन **देवजनेभ्यः नः नमः**=सर्पादि के विष-निवारण में समर्थ देवजनों के लिए हम नमस्कार करते हैं, जिनके अनुग्रह व कौशल से **संयतम्**=संश्लिष्ट (बन्द) हुआ-हुआ सर्प का मुख न **विष्परत्**=खुलता नहीं और **व्यात्तम्**=विवृत (खुला हुआ) मुख **न संयमत्**=बन्द नहीं होता। इसप्रकार ये वैद्य साँप को डसने में असमर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—कुशल वैद्यों के कौशल से हमें सर्पदंश से होनेवाले कष्टों से मुक्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्पों के लिए नमस्कार

नमो॑ऽ स्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये। स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ २ ॥

१. **असिताय**=कृष्णवर्ण सर्पराज के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—इससे हम दूर ही रहते हैं, दूर से ही इसे प्रणाम करते हैं। **तिरश्चिराजये नमः**=तिर्यग् अवस्थित वलियोंवाले—तिरछी धारियोंवाले सर्प के लिए भी नमस्कार हो—इससे हम दूर से ही बचें। **स्वजाय**=शरीर में चिपट जानेवाले सर्प के लिए तथा **बभ्रवे**=भूरे रङ्गवाले सर्प के लिए **नमः**=नमस्कार हो—इनसे हम बचें और वज्रप्रहार से इन्हें समाप्त करें। २. **देवजनेभ्यः नमः**=सर्प-विष-चिकित्सा करनेवाले वैद्यों के लिए हम उचित सत्कार प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'असित, तिरश्चिराजि, स्वज व बभ्रु' नामक सभी सर्पों से हम बचें, सर्पविष-चिकित्सकों का उचित आदर करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सर्पमुख-संहनन

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः सम॒ु ते॒ हन्वा॒ हनू॑।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्त्राह॑ आ॒स्य ∫ म्॥ ३ ॥

१. हे **अहे**=सर्प! **ते**=तेरे **दता**=उपरि पङ्क्ति दन्त से **दतः**=अधः पङ्क्ति में स्थित दाँतों को **संहन्मि**=संहत—संश्लिष्ट करता हूँ **उ**=और **ते**=तेरे **हन्वा**=हनु से **हनू**=हनु को **सम्**=संहत कर देता हूँ—तेरे दोनों जबड़ों को परस्पर सटा देता हूँ। **ते**=तेरी **जिह्वया**=जिह्वा से **जिह्वाम्**=जिह्वा को **सम्**=संहत करता हूँ **उ**=और **आस्ना**=तेरे मुख से **आस्यम्**=मुख को **सम्**=संहत करता हूँ—मुख के उत्तर और अधर भागों को संश्लिष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—सर्प के मुख को सम्यक् भींचकर उसे वशीभूत कर लेना चाहिए।

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भावरोग की एकमात्र औषध

इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्॥ १॥

१. **इदम् इत् वा**=यह ब्रह्मज्ञान ही **उ**=निश्चय से **भेषजम्**=औषध है। **इदम्**=यह **रुद्रस्य**=परमात्मा का उपदिष्ट वेदज्ञान इस भवरोग का **भेषजम्**=औषध है, **येन**=जिस ब्रह्मज्ञान-(वेदज्ञान)-रूप औषध से **इषुम्**=इस जीवनरूप बाण को **अपब्रवत्**=अपने से दूर करनेवाला होता है। यह जीवनरूप बाण **एकतेजनाम्**=देहरूप एक काण्डवाला है और **शतशल्याम्**=सैकड़ों व्याधियाँ ही इसमें शल्यरूप हैं अथवा जीवन के सौ वर्ष ही इसमें शत शल्य हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट वेदज्ञान को क्रिया में अनूदित करने पर हम मुक्त हो जाते हैं। भवरोग का औषध यह वेदज्ञान ही है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोमूत्र-फेन से व्रणचिकित्सा

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे॥ २॥

१. (जालाषमिति उदकनामसु पठितम्। अत्र च विनियोगानुसारेण गोमूत्रफेनलक्षणम्—सा०) हे परिचारको! **जालाषेण अभिषिञ्चत**=गोमूत्र-फेन से व्रण को सब ओर से धोओ (प्रक्षालयत), **जालाषेण उपसिञ्चत**=गोमूत्र-फेन से इसे उपसिक्त करो—रुई को उसमें भिगोकर व्रण पर रखो। यह **जालाषम्**=गोमूत्रफेन **उग्रं भेषजम्**=बड़ा तीक्ष्ण रोग-निवर्तक औषध है। हे इन्द्र! **तेन**=उस जालाष से **नः**=हमें **जीवसे**=दीर्घजीवन की प्राप्ति के लिए **मृड**=सुखी कीजिए।

भावार्थ—गोमूत्रफेन तीव्र कृमिनाशक औषध है। इसके प्रयोग से कैंसर आदि का दूर होना भी सम्भव है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः [भेषजम्]** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सर्वरोग शमन

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्॥ ३॥

१. हे देव! **नः**=हमारे **शं च**=रोग का शमन भी हो **च**=और **नः मयः**=हमें रोगजनित दुःख की शान्ति से सुख प्राप्त हो **च**=और **नः** हमारा **किंचन**=कोई भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग **मा आममत्**=रोगग्रस्त न हो। २. **रपः**=(रपसः) रोग के कारणभूत पाप का **क्षमा**=शमन—शान्ति हो। **नः** हमारे लिए **विश्वम्**=सारे पदार्थ **भेषजम् अस्तु**=औषधरूप हों—हम भोज्यपदार्थों को भी क्षुधारूप रोग के औषध के रूप में ही सेवन करें। **सर्वम्**=(सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः) वे सर्वव्यापक प्रभु **नः**=हमारे लिए **भेषजम् अस्तु** औषध हों। प्रभु-स्मरण हमें सब व्याधियों से बचाए।

भावार्थ—हमारे रोग शान्त हो गये, सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वस्थ हों। भोज्यद्रव्यों को हम औषधरूप से सेवन करें। प्रभु स्मरण हमारे पाप-रोगों का सर्वमहान् औषध हो।

विशेष—अपने जीवन को रोग व पापशून्य बनाकर यह स्थिरवृत्तिवाला बनता है। इसका

नाम 'अथर्वा' हो जाता है। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यशस्वी जीवन

यशसं मेन्द्रो मघवान्कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥ १॥

१. **मा**=मुझे **मघवान् इन्द्रः**=ऐश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् प्रभु **यशसं कृणोतु**=यशस्वी बनाए। मैं भी ऐश्वर्य व शक्ति से सम्पन्न बनकर यश प्राप्त करूँ। **इमे उभे**=ये दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **यशसम्**=मुझे यशस्वी बनाएँ। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त हो और शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ हो। ये ज्ञानदीप्ति व शक्ति मुझे यशस्वी बनाएँ। २. **मा**=मुझे **सविता देवः**=प्रेरक व दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **यशसं कृणोतु**=यशस्वी करे। मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ और दिव्य गुणों का अपने में वर्धन करूँ। इसप्रकार ही तो मेरा जीवन यशस्वी बनेगा। मैं **इह**=इस जीवन में **दक्षिणायाः दातु**=सब दक्षिणाओं के देनेवाले उस प्रभु का **प्रियः स्याम्**=प्रिय बनूँ।

भावार्थ—हम 'धन, शक्ति, ज्ञान व शरीर की दृढ़ता' को धारण करते हुए यशस्वी बनें। प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए दिव्य गुणों को धारण करें और उस सर्वप्रद प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

इन्द्रः, आपः

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम॥ २॥

१. **यथा**=जैसे इन्द्रः सूर्य **द्यावापृथिव्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **यशस्वान्**=वृष्टिप्रदान आदि कर्मों के कारण यशस्वी है, **यथा**=जैसे **आपः**=जल **ओषधिषु**=व्रीही-यव आदि ओषधियों में **यशस्वतीः**=उनकी वृद्धि का हेतु होने से यशवाले हैं, **एव**=उसी प्रकार **विश्वेषु देवेषु**=सब देवों में **वयम्**=हम **सर्वेषु**=सब गुणों के दृष्टिकोण से **यशसः स्याम**=यशस्वी हों।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम गुणों का आदान करके उन गुणों को सर्वत्र फैलानेवाले बनें। जलों की भाँति रस का सञ्चार करनेवाले हों। सब दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः, अग्नि, सोम

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥ ३॥

इस मन्त्र की व्याख्या ६.३९.३ पर द्रष्टव्य है।

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरुन्धती ओषधि

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे॥ १॥

१. हे **अरुन्धति**=अरुन्धती ओषधे! **त्वम्**=तू **प्रथमम्**=पहले **अनडुद्भ्यः**=शकट का वहन

करनेवाले बैलों के लिए **शर्म**=सुख—व्रण आदि को पूरा करने के द्वारा सुख-चैन **यच्छ**=दे, तथा **त्वम्**=तू **धेनुभ्यः**=दूध देनेवाली गौओं के लिए सुख प्रदान कर। २. इसप्रकार **अधेनवे**=धेनु व्यतिरिक्त **वयसे**=पाँच वर्ष से छोटे गवाश्वादि जातीय **चतुष्पदे**=चतुष्पदमात्र के लिए सुख दे।

भावार्थ—अरुन्धती ओषधि के प्रयोग से हमारे बैल, गौ व अन्य पशु व्रणादिरहित होकर सुखी हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पयस्वान् गोष्ठ

शर्म॑ यच्छ॒त्वोष॑धिः स॒ह दे॒वीर॑रुन्ध॒ती। कर॒त्पय॑स्वन्तं गो॒ष्ठम॑य॒क्ष्माँ उ॒त पू॒रु॑षान्॥ २॥

१. **देवीः सह अरुन्धती**=दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अरुन्धती **ओषधिः**=ओषधि **शर्म यच्छतु**=हमारे सब पशुओं के लिए सुख दे। २. यह अरुन्धती ओषधि सब पशुओं की नीरोगता के द्वारा **गोष्ठम्**=हमारे गो-निवास देश को **पयस्वन्तम् करत्**=प्रभूत दुग्ध से युक्त करे, **उत**=और इस गोदुग्ध के द्वारा **पूरुषान्**=घर के सब व्यक्तियों को **अयक्ष्मान्**=नीरोग करे।

भावार्थ—अरुन्धती ओषधि हमारे पशुओं को नीरोग बनाकर हमारे घरों को दूध से भर दे। इस गोदुग्ध द्वारा यह हमारे सब मनुष्यों को स्वस्थ बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विश्वरूपा सुभगा जीवला' अरुन्धती

वि॒श्वरू॑पां सु॒भगा॑म॒च्छाव॑दामि जीव॒लाम्।
सा नो॑ रु॒द्रस्या॒स्तां हे॒तिं दूरं न॑यतु गोभ्यः॥ ३॥

१. **विश्वरूपाम्**=नीरोगता द्वारा सबको उत्तम रूप देनेवाली, **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्यशाली, **जीवलाम्**=जीवनीशक्ति को देनेवाली इस अरुन्धती को **अच्छ वदामि**=लक्ष्य करके कहता हूँ कि **सा**=वह अरुन्धती **रुद्रस्य अस्तां हेतिम्**=हमारी त्रुटियों के परिणामस्वरूप रुद्र (प्रभु) से फेंके गये अस्त्र को **नः गोभ्यः**=हमारी गौओं से **दूरं नयतु**=दूर देश में प्राप्त कराए, अर्थात् अरुन्धती के प्रयोग से हमारे गवादि पशु नीरोग हों—यह उन्हें उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त कराए, उन्हें सौभाग्यवाला करे—उनके दूध में यह जीवनशक्ति को स्थापित करनेवाली हो।

भावार्थ—अरुन्धती 'विश्वरूपा, सुभगा व जीवला' है। यह हमारे पशुओं को नीरोग बनाए।

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषितस्तुप 'अर्यमा'

अ॒यमा या॑त्य॒र्यमा पु॒रस्ता॒द्विषि॑तस्तुपः। अ॒स्या इ॒च्छन्न॑ग्रु॒वै पति॑मु॒त जा॒याम॒जाय॑ये॥ १॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **वि-षित-स्तुपः**=विशेषरूप से बँधा हुआ है रश्मियों का समुच्छ्रय जिसमें, ऐसा **अयम्**=यह **अर्यमा**=सूर्य **आयाति**=आता है। रश्मि-समूह से युक्त सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है। यह सूर्य इस कन्या को भी एक-एक दिन करके यौवन प्राप्त करता है और आज **अस्यै अग्रुवै**=इस अविवाहित युवति के लिए **पतिम्**=पति को चाहता है, **उत**=और **अजानये**=जायारहित युवक के लिए **जायाम्**=पत्नी को चाहता हुआ यह सूर्य आता है। २. सूर्य अपनी प्रकाशमयी किरणों से युवक व युवतियों को यौवन प्राप्त कराता है और उनमें एक-दूसरे को प्राप्त करने की कामना जगाता है, मानो सूर्य ही इस कार्य को करनेवाला हो। वस्तुतः कन्या का पिता भी 'अर्यमा' है—'**अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति**' जो कन्या के हाथ को पति के हाथ

में देते हैं तथा 'अरीन् यच्छति' क्राम-क्रोध-लोभ आदि का नियमन करते हैं, साथ ही सूर्य की भाँति '**विषितस्तुप**'=अपने अन्दर ज्ञानरश्मियों के समुच्छ्रय को बाँधनेवाले होते हैं।

भावार्थ—आदर्श पिता सूर्य के समान है। वह अपनी युवति कन्या के लिए पति की कामना करता हुआ एक उत्तम युवक के लिए कन्या का हाथ ग्रहण कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समनं यती

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती। अङ्गो न्व र्यमन्नस्या अन्याः समनमायति॥ २॥

१. हे **अर्यमन्**=सूर्यवत् दीप्तज्ञानवाले कन्या-पितः! **इयम्**=यह आपकी कन्या **अन्यासाम्**=अपनी अन्य सहेलियों के **समनं यती**=(समनं संमननात् संमानाद्वा—निरु० ७.४.३) सम्मानवाले प्रसङ्गों में—पति-मिलाप के अवसरों पर—विवाहोत्सवों में जाती हुई **अश्रमत्**=थक गई है। २. हे **अर्यमन्**=काम-क्रोध के नियन्ता कन्या-पितः! **नु**=अब **अङ्ग उ**=शीघ्र ही ऐसी व्यवस्था करो कि **अन्याः**=इसकी अन्य सहेलियाँ **अस्याः समनम् आयति**=(आयन्ति) इसके विवाहोत्सव में—पति-मिलन प्रसङ्गों में उपस्थित हों।

भावार्थ—युवति कन्या जब अपनी सहेलियों के विवाहोत्सव में सम्मिलित होती है तो उसकी भी 'पति-प्राप्ति' की कामना होना स्वाभाविक है, अतः पिता को अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रतिकाम्य पति

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम्।
धातास्या अग्नवै पतिं दधातु प्रतिकाम्य र्म्॥ ३॥

१. कन्या-पिता प्रभु से प्रार्थना करता है कि **धाता**=सर्वाधार प्रभो! आप **पृथिवीं दाधार**=पृथिवी का धारण करते हैं, **धाता**=सर्वाधार आप ही **द्याम्**=द्युलोक का **उत**=और **सूर्यम्**=सूर्य का धारण करते हैं। **धाता**=धाता आप ही **अस्यै अग्नवै**=इस पतिकामा कन्या के लिए **प्रतिकाम्यम्**=आभिमुख्येन कामयितव्य **पतिं दधातु**=पति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—कन्या का पिता प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ही सबके आधार हो। इस कन्या को भी आपने ही आधार देना है। इसके लिए आप ही योग्य वर प्राप्त कराएँगे।

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

माधुर्य, ज्योति, व्यचस् (व्यापकता, उदारता)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात्॥ १॥

१. **आपः**=जल **मह्यम्**=मेरे लिए **मधुमत् एरयन्ताम्**=अपने माधुर्योपेत रस को प्राप्त कराएँ तथा **सूरः**=सूर्य **मह्यम्**=मेरे लिए **कम्**=सुखकर आत्मीय तेज को **ज्योतिषे**=प्रकाश के लिए **अभरत्**=प्राप्त कराता है। जल व सूर्य मुझमें क्रमशः माधुर्य व ज्योति स्थापित करते हैं, २. **उत**=और **तपोजाः**=तप से शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव (विद्वान्) **मह्यम्**=मेरे लिए **व्यचः**=व्यापन—विस्तार व उदारता को **धात्**=धारण करें। वह **सविता देवः**=

सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु भी **मह्यम्**=मेरे लिए उदारता को धारण करानेवाला हो।

भावार्थ—स्वाभाविक सरल जीवन बिताते हुए हम जलों से माधुर्य तथा सूर्य से ज्योति प्राप्त करें। 'माता-पिता, आचार्य व प्रभु' मुझे उदार—विशाल हृदय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

सत्यम् अनृतम्

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च॥ २॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिवीं उत द्याम्**=पृथिवी और द्युलोक को **विवेच**=पृथक्-पृथक् थामे रखता हूँ। **अहम्**=मैं **साकम्**=साथ-साथ ही **सप्त ऋतून्**=सात गतिशील प्राणों को—'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख' **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **यत् सत्यम् अनृतम्**=जो सत्य और झूठ है, उसका **वदामि**=प्रतिपादन करता हूँ। 'यह सत्य है, यह अनृत है'—इसका बतानेवाला मैं ही हूँ, **च**=और **अहम्**=मैं ही **दैवीं वाचम्**=दिव्य वेदवाणी को **परिविशः**=प्रजाओं का लक्ष्य करके प्रतिपादित करता हूँ।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु ही हमें मुखादि सात प्राणों को—इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारे लिए सत्य व असत्य का विविक्तरूप से उपदेश करते हैं। प्रभु ही सृष्टि के आरम्भ में वेदवाणी का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

अग्नीषोमौ

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया॥ ३॥

१. **अहम्**=मैं **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत द्याम्**=और द्युलोक को **जजान**=प्रादुर्भूत करता हूँ। **अहम्**=मैं ही प्राणिशरीर में **ऋतून्**=गतिशील **सप्त सिन्धून्**=सात प्राण-प्रवाहों को **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। २. **अहम्**=मैं ही **यत्**=जो **सत्यम्**=सत्य है और **अनृतम्**=जो अनृत है उसका **वदामि**=उपदेश करता हूँ, हृदयस्थ रूपेण सत्यासत्य का विवेक प्राप्त कराता हूँ। मैं वह हूँ **यः**=जोकि **सखाया**=परस्पर मित्रभूत—एक-दूसरे के पूरक होने से परस्पर सम्बद्ध **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोमतत्त्वों को **अजुषे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कराता हूँ, अर्थात् मेरा उपासक अपने जीवन में अग्नि और सोम इन दोनों तत्त्वों का समन्वय करनेवाला बनता है। इसी कारण उसका जीवन समत्ववाला बना रहता है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड व पिण्ड के जनक प्रभु हमारे जीवनों में सत्यासत्य का प्रकाश करते हैं। वे अपने उपासकों में अग्नि व सोमतत्त्व को स्थापित करके उनके जीवनों को समत्वयुक्त करते हैं।

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोकाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सूर्य, वायु, मेघ, द्यावापृथिवी' द्वारा पवित्रता

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञियं नः पुनीताम्॥ १॥

१. **वैश्वानरः**=सब प्राणियों का हित करनेवाला सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **नः पुनातु**=हमें पवित्र करे। **वातः**=देहमध्य में विचरण करता हुआ वायु **प्राणेन**=श्वासोच्छ्वासादिरूप से हमें पवित्र करें। **इषिरः**=यह गमनशील—अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाला वायु **नभोभिः**=अन्तरिक्ष-प्रदेशस्थ मेघों से हमें पवित्र करे। २. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **पुनीताम्**=पवित्र करें। जो द्यावापृथिवी **पयसा पयस्वती**=सारभूत रस से सारवाले हैं, **ऋतावरी**=उदकवाले हैं और **यज्ञिये**=यज्ञों के निष्पादन में समर्थ हैं, अथवा संगतिकरण योग्य हैं। हमें इन द्यावापृथिवी को मिलाकर ही चलना चाहिए। अपने जीवन में शरीर (पृथिवी) व मस्तिष्क (द्युलोक) दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए।

भावार्थ—सूर्य, वायु, मेघ व द्यावापृथिवी—सभी हमें पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानरी वाणी का अध्ययन

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो ∫ वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २॥

१. **वैश्वानरीम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु से दी गई **सूनृताम्**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली व सत्य (सु+ऊन+ऋत) वेदवाणी को **आरभध्वम्**=आरम्भ करो, इसका अध्ययन आरम्भ करो, **यस्याः**=जिस वेदवाणी की **आशाः**=दिशाएँ **तन्वः**=विस्तारवाली हैं तथा **वीतपृष्ठाः**=दीप्त व विस्तीर्ण पृष्ठवाली हैं—इस वेदवाणी का ज्ञान अनन्त व दीप्त है। २. **तया**=उस वेदवाणी से **सधमादेषु**=आनन्दपूर्वक मिलकर बैठने के अवसरों पर **गृणन्तः**=प्रभुस्तवन करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=पति हों—दास न बन जाएँ।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें। यह वेदवाणी अनन्त ज्ञानवाली है। मिलकर बैठने के अवसरों पर इस वाणी द्वारा हम प्रभुस्तवन करें और इस संसार में धनों के दास न बनकर उनके स्वामी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुचयः, पावकाः

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्॥ ३॥

१. **वैश्वानरीम्**=प्राणिमात्र का हित करनेवाले प्रभु की वेदवाणी को **आरभध्वम्**=पढ़ना आरम्भ करो। यह **वर्चसे**=तुम्हारे वर्चस् के लिए होगी। इससे **शुद्धाः भवन्तः**=पापशून्य होते हुए **शुचयः**=ब्रह्मवर्चस् से दीप्त बनकर **पावकाः**=औरों को भी पवित्र करनेवाले बनो। २. **इह**=यहाँ—घरों में **इडया**=इस वेदवाणी से **सधमादं मदन्तः**=आनन्दपूर्वक मिलकर बैठने के स्थानों में आनन्दित होते हुए हम **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **पश्येम**=देखें, अर्थात् बड़े दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से पापरहित बनकर औरों को भी पवित्र करनेवाले हों। घरों में मिलकर, आनन्दपूर्वक इसका पाठ करें और दीर्घजीवी बनें।

विशेष—वेदवाणी के अध्ययन के द्वारा काम-क्रोध-लोभ आदि की जिघांसावाला यह पुरुष 'द्रुह्वणः' कहलता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)**॥ देवता—**निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

'अदो-मदं' अन्नम्

यत्ते॑ दे॒वी नि॑र्ऋ॒तिरा॒बब॑न्ध॒ दामं॑ ग्री॒वास्ववि॑मो॒क्यं॑ यत्।
तत्ते॒ वि ष्या॒म्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑यादो॒मद॑मन्न॑मद्धि॒ प्रसू॑तः॥ १॥

१. हे पुरुष! **देवी**=तुझे पराजित करने की कामनावाली (दिव् विजिगीषा) अथवा तुझे मद की अवस्था में ले-जानेवाली **निर्ऋतिः**=इस अनिष्टकारिणी पापदेवता ने **ते**=तेरी **ग्रीवासु**=कण्ठगत धमनियों में—तेरी गर्दन में **यत्**=जिस **अविमोक्यम्**=कठिनता से छुड़ाये जाने योग्य **दाम**=रज्जु को—पाश को **आबबन्ध**=बाँधा है, **ते**=तेरे **तत्**=उस पाश को **विष्यामि**=मैं छुड़ाता हूँ। गतमन्त्र के अनुसार वेदाध्ययन की प्रवृत्ति हमें इस निर्ऋति के पाश से छुड़ानेवाली होगी। २. इस निर्ऋति के पाश से मुक्त होकर तू **प्रसूतः**=इस वेदवाणी से प्रेरित हुआ-हुआ **अदोमदम्**=अनन्तकाल तक व्याप्त होनेवाले—आनन्द प्राप्त करानेवाले **अन्नम् अद्धि**=ज्ञान का ओदन खा। 'ब्रह्माचारी'—ज्ञान को चरनेवाला बन, 'आ-चार्य' तुझे इस ज्ञान को चराएँ। यह तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए हो, **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए हो तथा **बलाय**=तुझे बल सम्पन्न करे।

भावार्थ—हम वेदाध्यन द्वारा अपने को निर्ऋति के पाश से मुक्त करें। अनन्त आनन्द प्राप्त करानेवाले ज्ञान को प्राप्त करें। ब्रह्मौदन के खानेवाले बनें। यह हमें 'दीर्घजीवन, प्राणशक्ति व बल' प्राप्त कराए।

ऋषिः—**द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**जगतीगर्भाजगती**॥

'निर्ऋतिपाश विमोक्ता' यम (मृत्यु)

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽ य॒स्मया॒न्वि चृ॑ता बन्धपा॒शान्।
य॒मो मह्यं॑ पुन॒रित्त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑॥ २॥

१. साधक निर्ऋति=पापदेवता से कहता है कि हे **तिग्मतेजः**=तीक्ष्णतेजवाली **निर्ऋते**=पापदेवते! **नमः अस्तु**=हमारा तुझे दूर से ही नमस्कार हो। तूने इन **अयस्मयान्**=लोहे के बने हुए—बड़े दृढ़ **बन्धपाशान्**=बन्धनरज्जुओं को **विचृता**=छिन्न कर दिया है—हमसे पृथक् कर दिया है। हे पापदेवते! तेरी बड़ी कृपा है कि तूने हमें बन्धनमुक्त कर दिया है। २. इस बन्धनमुक्त साधक से प्रभु कहते हैं कि पाप-बन्धनों से मुक्त करनेवाला **यमः**=तुम्हारे जीवन को नियमित बनानेवाला आचार्य **त्वाम्**=तुझे **पुनः इत्**=फिर—पाप-बन्धन से मुक्त करके **मह्यं ददाति**=मुझे देता है। **तस्मै**=उस **यमाय**=जीवन को नियमित करनेवाले **मृत्यवे**=द्वितीय नव-जीवन प्राप्त करानेवाले आचार्य के लिए **नमः अस्तु**=तुम्हारा नमस्कार हो—तुम उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करो।

भावार्थ—हम पाप-देवता को दूर से ही नमस्कार करें। नियन्ता, नव-जीवन देनेवाले आचार्यों का हम आदर करें। वे हमें पाप-बन्धन से मुक्त करके प्रभु के लिए प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**जगतीगर्भाजगती**॥

यमेन पितृभिः संविदानः

अ॒य॒स्मये॑ द्रु॒प॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्यु॒भि॒र्ये स॒हस्र॑म्।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहयेमम्॥ ३॥

१. हे **निर्ऋते**=पापदेवते! तू इस मनुष्य को **अयस्मये**=लोह-निर्मित-बड़े दृढ़ **द्रुपदे**=दारु

निर्मित पादबन्धन में—बेड़ियों में **बेधिषे**=बाँध देती है। **इह**=इस लोक में यह पुरुष इन **मृत्युभिः**=मृत्यु के कारणभूत पाशों से **अभिहितः**=बद्ध हो जाता है। उन मृत्युपाशों से बद्ध हो जाता है **ये**=जोकि **सहस्त्रम्**=हज़ारों की संख्या में हैं। कितने ही पाश-बन्धनों से यह पुरुष जकड़ा जाता है। हे साधक! **त्वम्**=तू **यमेन**=जीवन को नियमित बनानेवाले आचार्य से तथा **पितृभिः**=रक्षा करनेवाले माता-पिता आदि से **संविदानः**=सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता हुआ अपने को **इमम्**=इस **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट मोक्षलोक में **अधिरोहय**=आरूढ़ कर—तू मोक्षलोक को प्राप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—पापदेवता हमें दृढ़ पाशों में जकड़ देती है। हम आचार्यों व पितरों से ज्ञान प्राप्त करके पाप-बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**द्रुह्वणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'वृषा, अग्नि, अर्य' आचार्य

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ ४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि हे **वृषन्**=मुझे ज्ञान-जल से सिक्त करनेवाले, **अग्ने**=मुझे आगे-और-आगे ले-चलनेवाले आचार्य! **अर्यः**=आप जितेन्द्रिय हो और सब ज्ञानों के स्वामी हो। **इत्**=निश्चय से **सम्**=सम्यक् और **सं आ युवसे**=अच्छी प्रकार ही मुझे बुराइयों से पृथक् करते हो और अच्छाई के साथ जोड़ते हो। २. आप **इडःपदे**=इस ज्ञान की वाणी के मार्ग में **समिध्यसे**=खूब ही चमकते हो। **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=इन ज्ञान-साधनों को **आभर**=समन्तात् भृत कीजिए। हमें ज्ञानदीप्त करके उस ज्ञानाग्नि में सब निर्ऋति-बन्धनों को भस्म कर दीजिए।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त आचार्य हमें ज्ञानसिक्त करके सब बुराइयों से पृथक् करें।

विशेष—यह ज्ञानदीप्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बनता है। इसकी मति विषयों से आन्दोलित नहीं होती। इसी से यह 'अथर्वा' कहलाता है। यह अथर्वा ही अगले छह सूक्तों का ऋषि है।

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संज्ञान

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १॥

१. आचार्य का विद्यार्थी को प्रथम उपदेश यह है कि तुम **संजानीध्वम्**=समान ज्ञानयुक्त होओ। ज्ञान ही सब व्यवहारों का मूल है। समान ज्ञानवाले होकर **संपृच्यध्वम्**=मिलकर कार्यों को करनेवाले होओ। **वः**=तुम्हारे **मनांसि**=मन **संजानताम्**=परस्पर विरुद्ध ज्ञानजनक न हों। अन्तःकरण समान ज्ञान को पैदा करेगा तो संज्ञानवाले बनकर मिलकर कर्मों को करनेवाले होंगे। २. **यथा**=जिस प्रकार **संज्ञानानाः**=संज्ञानवाले **पूर्वे**=पालन व पूरण करनेवाले **देवाः**=देव **भागम् उपासते**=अपने-अपने कर्त्तव्य का उपासन करते हैं, उसी प्रकार हम भी 'सांमनस्य, संज्ञान व सम्पर्क' वाले हों।

भावार्थ—देव संज्ञानवाले होते हुए अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते हैं, उसी प्रकार हम भी संज्ञानवाले होकर अपने-अपने कर्त्तव्यों को करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मन्त्र व चित्त की समानता

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥ २॥

१. **मन्त्रः**=तुम्हारा कार्य-अकार्य का पर्यालोचन **समानः**=एकरूप हो। उस मन्त्र के अनुसार **समितिः**=संगति—कार्यों में प्रवृति **समानी**=एकरूप हो, तुम्हारे **व्रतं समानम्**=कर्म एकरूप हों। **एषाम्**=इन सबका **चित्तम्**=अन्तःकरण भी **सह**=एकविध हो—मिला हुआ हो। २. **समानेन**=साधारण—ऐक्य के जनक **हविषा**=दानपूर्वक अदन की वृति से **वः**=तुम्हें **जुहोमि (हावयामि)**=यज्ञशील बनाता हूँ। वस्तुत यह यज्ञशीलता—स्वार्थ से ऊपर उठने की वृत्ति ही हमें परस्पर मेलवाला करती है। इस हवि के द्वारा **समानं चेतः**=एकरूप चित्त को **अभि-संविशध्वम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होओ।

भावार्थ—हमारा मन्त्र, समिति, व्रत व चित्त समान हो। हम यज्ञशील होते हुए समान चित्त को प्राप्त हों। हम सब अभिन्न हृदय बन पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'आकूति, हृदय व मन' की समानता

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ३॥

१. हे सांमनस्य की कामनावाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **आकूतिः**=संकल्प **समानी**=समान हो। **वः**=तुम्हारे **हृदयानि**=संकल्पजनक अन्तःकरण **समाना**=एकरूप हों। २. **वः**=तुम्हारा **मनः**=सुख आदि का अनुभव करनेवाला मन **समानम् अस्तु**=एकरूप हो, **यथा**=जिससे **वः**=तुम्हारा **सुसह**=उत्तमता से मिलकर कार्यों का करना **असति**=हो।

भावार्थ—तुम्हारे संकल्प, हृदय और मन एक हों, जिससे तुम मिलकर कार्यों को कर सको।

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**पराशरः, इन्द्र**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

शत्रुबाधा-निवारण

अव मन्युरवायतावं बाहू मनोयुजा।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि॥ १॥

१. शत्रु-सम्बन्धी **मन्युः**=क्रोध **अव**=हमसे दूर हो। **आयता**=आयम्यमान धनुष् आदि आयुध **अव**=हमसे दूर हों। **मनोयुजा बाहू**=मनसहित इन शत्रुओं की भुजाएँ **अव**=अवाचीन हों—आयुधों के उठाने में अशक्त हों। २. हे **पराशर**=(पराशृणाति शत्रून्) शत्रुओं को सुदूर नष्ट करने-वाले इन्द्र! **त्वम्**=आप **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **पराञ्चम्**=पराङ्मुख **अर्दय**=बाधित कीजिए—हमपर इस बल का आक्रमण न हो, ऐसी व्यवस्था कीजिए। **अध**=अब—शत्रुओं को पराङ्मुख करने के पश्चात् **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आकृधि**=समन्तात् प्राप्त कराइए।

भावार्थ—शत्रुओं के क्रोध व आयुधों को हमसे दूर कीजिए। उनके मन में आक्रमण का उत्साह न हो और भुजाओं में आक्रमण की शक्ति न हो। शत्रुओं के बल को हमसे दूर बाधित

कीजिए और हमें ऐश्वर्यशाली बनाइए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सैनिकों व प्रजाओं का कर्त्तव्य

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ। वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=शत्रुओं के पराजय की कमानवाले सैनिको! (दिव् विजिगीषा) **निर्हस्तेभ्यः**=हम निहत्थे प्रजाजनों के रक्षण के लिए **यम्**=जिस **नैर्हस्तम्**=शत्रुओं को निहत्था करनेवाले **शरुम्**=हिंसक बाण आदि आयुध को **अस्यथ**=तुम फेंकते हो, तो **अहम्**=मैं प्रजाजन भी **अनेन हविषा**=इस हवि के द्वारा—राष्ट्र रक्षा के लिए दिये जानेवाले धन के द्वारा **शत्रूणां बाहून्**=शत्रुओं की भुजाओं को **वृश्चामि**=काटता हूँ।

भावार्थ—शस्त्रास्त्रशून्य हाथोंवाले प्रजाजनों के रक्षण के लिए सैनिक शक्तिप्रयोग के द्वारा शत्रुओं को निहत्था करनेवाले हों। प्रजाजन धन-प्रदान द्वारा इस युद्ध में सफलता प्राप्त करानेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रः+सत्वानः

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः। जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना॥ ३॥

१. **प्रथमम्**=पहले **इन्द्रः**=राष्ट्र का रक्षक राजा—देववृत्ति की प्रजाओं का रक्षण करानेवाला राजा **असुरेभ्यः**=आसुरवृति के पुरुषों के लिए—राष्ट्र में डाके आदि उपद्रव करानेवाले पुरुषों के लिए **नैर्हस्तं चकार**=निहत्थेपन की व्यवस्था करता है—उन्हें निगृहीत करके निहत्था करता है, इसप्रकार यह राजा आन्तर शत्रुओं का विनाश करता है। २. इस राजा की यह कामना होती है कि **स्थिरेण**=युद्धकर्म में दृढ़ **मेदिना**=सैनिकों के साथ स्नेह करनेवाले **इन्द्रेण**=शत्रुविद्रावक सेनापति के साथ **मम**=मेरे **सत्वानः**=(सादयन्ति शत्रून् इति) शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले सैनिक **जयन्तु**=शत्रुओं को पराजित करें।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विनाश करे। सेनापति वीर और सैनिकों के प्रति स्नेहवाला हो।

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अघहार-वेधन

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः॥ १॥

१. **अभिदासन्**=हमारा उपक्षय करनेवाला शत्रु **निर्हस्तः अस्तु**=निहत्था हो जाए—उसके हाथ सामर्थ्यशून्य हो जाएँ। **ये**=जो शत्रु **सेनाभिः**=अपनी सेनाओं के साथ **अस्मान् युधम् आयन्ति**=हमारे साथ युद्ध के लिए आते हैं, २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू उन शत्रुओं को **महता वधेन**=महान् हनन-साधन आयुध से—वज्र से **समर्पय**=संयुक्त कर—वज्र के द्वारा इनका विनाश कर। **एषाम्**=इनका **अघहारः**=मरण-लक्षण, दुःख प्राप्त करानेवाला प्रधान पुरुष **विविद्धः**=विशेषरूप से विद्ध हुआ-हुआ **द्रातु**=भाग खड़ा हो।

भावार्थ—सेनाओं द्वारा आक्रमण करनेवाले शत्रु को हम निहत्था करें। इन्हें वज्र के प्रति अर्पित करें। इनके प्रधान को विविद्ध करके भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुओं का निर्हस्तीकरण

आ॒त॒न्वा॒ना आ॒यच्छ॒न्तोऽस्य॑न्तो॒ ये च॒ धाव॑थ।
निर्ह॑स्ताः श॒त्रवः॒ स्थ॒नेन्द्रो॑ वो॒ऽद्य परा॑शरीत्॥ २॥

१. **आतन्वानाः**=धनुषों पर चिल्ला चढ़ाये हुए **आयच्छन्तः**=शरसन्धान द्वारा धनुषों को तानते हुए **च**=तथा **अस्यन्तः**=तीरों को फेंकते हुए **ये**=जो तुम **धावथ**=हमारे अभिमुख शीघ्रता से आते हो, वे तुम सब **शत्रवः**=शत्रु **निर्हस्ताः**=निर्वीर्य हाथोंवाले **स्थन**=होओ। **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **वः**=तुम्हें **अद्य**=आज **पराशरीत्**=सुदूर विशीर्ण करता है।

भावार्थ—आक्रमण के लिए उद्यत शत्रुओं को सेनापति निर्हस्त करके सुदूर विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुधन-विभाजन

निर्ह॑स्ताः सन्तु श॒त्रवोऽङ्गै॑षां म्लापयामसि।
अथै॑षामिन्द्र॒ वेदां॑सि श॒त॒शो वि भ॑जामहै॥ ३॥

१. **शत्रवः**=हमारे शत्रु **निर्हस्ताः सन्तु**=निहत्थे हो जाएँ। हम **एषाम्**=इनके **अङ्गा**=हस्त-पादादि अवयवों को **म्लापयामसि**=म्लान—क्षीणहर्ष करते हैं। २. **अथ**=अब—इन्हें नष्ट करने के पश्चात् हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आपके अनुग्रह से **एषां शत्रूणाम्**=इन शत्रुओं के **वेदांसि**=धनों को—अन्यायार्जित धनों को **वि भजामहै**=इनसे विभक्त कर देते हैं—इनके धनों को इनसे छीनकर यथोचितरूप में बाँट देते हैं।

भावार्थ—शत्रुओं को नष्ट करके उनके अन्यायोपार्जित धनों को उनसे विभक्त कर दिया जाए।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रः+पूषा

परि॒ वर्त्मा॑नि स॒र्वत॒ इन्द्रः॑ पू॒षा च॑ सस्वतुः।
मुह्य॑न्त्व॒द्यामूः सेना॑ अ॒मित्रा॑णां परस्त॒राम्॥ १॥

१. राष्ट्र में शत्रुओं से मोर्चा लेनेवाला 'इन्द्र' है। सैनिकों की भोजन-व्यवस्था को ठीक रखनेवाला 'पूषा' है। **इन्द्रः पूषा च**=ये इन्द्र और पूषा **सर्वतः**=सब दिशाओं में **वर्त्मानि**=सञ्चरण मार्गों को **परिसस्वतुः**=चारों ओर से निरुद्ध करके गति करते हैं। शत्रुओं को प्रवेश के लिए द्वार उपलब्ध नहीं होता। २. **अद्य**=अब **अमूः**=वे दूर पर दिखाई देती हुई **अमित्राणां सेनाः**=शत्रुओं की सेनाएँ—रथ, तुरग, पदाति आदि **परस्तराम्**=अशियेन—बहुत ही **मुह्यन्तु**=व्यामूढचित्त—कार्याकार्य-ज्ञान-शून्य हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति व अन्नाध्यक्ष सब ओर से मार्गों पर गति करते हुए शत्रु-सैन्यों के लिए मार्गों को निरुद्ध कर दें। शत्रु-सैन्य मूढ बनकर आक्रमण करने का साहस छोड़ बैठे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रधान-विनाश

मू॒ढा अ॒मित्रा॑श्चरताशी॒र्षाणो॒ह्वाह॑यः। तेषां॑ वो अ॒ग्निर्मू॑ढा॒नामिन्द्रो॑ हन्तु वर॑वरम्॥ २॥

१. हे **अमित्राः**=हे शत्रुओ! **मूढाः चरत**=जय-उपाय-ज्ञानशून्य होकर तुम युद्धभूमि में इसप्रकार विचरो **इव**=जैसे **अशीर्षाणः अहयः**=अशिरस्क—छिन्नशिरस-सर्प केवल चेष्टा करते हैं, परन्तु कार्य कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसे ही तुम भी हो जाओ। २. **अग्निमूढानाम्**=आग्नेय-अस्त्रों से मूढ बने हुए—घबराये हुए **तेषां वः**=उन तुममें से **वरं वरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ को—मुख्य व्यक्तियों को **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **हन्तु**=मार डाले। मुख्यों के मारे जाने पर युद्ध समाप्त हो जाने से दूसरों को मारने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

भावार्थ—सब मार्गों के रुके होने पर शत्रु घबरा जाएँ। आग्नेय-अस्त्रों के प्रक्षेप से मूढ बने हुए इन शत्रुओं में से राजा चुन-चुनकर मुखियों को मारडाले, जिससे व्यर्थ का नर-संहार न करना पड़े।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वभूमि-प्रत्यावर्तन

ऐषु॑ नह्य॒ वृषा॒जिनं॑ हरि॒णस्या॒ भिय॑ं कृधि। परा॑ङे॒षत्व॒र्वाची॒ गौरु॑पे॒षतु॥ ३॥

१. हे इन्द्र! तू **एषु**=इन हमारे सैनिकों में **वृषा**=शक्ति का सेचन करता हुआ **अजनिं आनह्य**=चर्मनिर्मित कवच को पहना दे और तब शत्रुओं में **हरिणस्य**=हिरन-सम्बन्धी **भयं कृधि**=भय को उत्पन्न कर दे। जैसे भयभीत हिरन भगा खड़ा होता है, उसी प्रकार हमारे ये शत्रु भाग खड़े हों। २. **अमित्रः**=शत्रु **पराङ् एषतु**=सुदूर भाग जाए। यह **गौः**=शत्रु से अधिकृत कर ली गई भूमि पुनः—**अर्वाची उप एषतु**=हमारे अभिमुख समीपता से प्राप्त हो। हमारी भूमि हमें पुनः प्राप्त हो जाए।

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को कवच धारण कराता हुआ उन्हें शक्तिशाली बनाए। शत्रु-सैन्य को भयभीत हिरन की भाँति दूर भगा दे। हमारी भूमि पुनः हमें प्राप्त हो जाए।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोविराडतिशक्वरगर्भाचतुष्पदा-जगती**॥

अज्ञानान्धकाररूप केशों का वपन

आय॑मगन्त्सवि॒ता क्षुरे॑णो॒ष्णेन॑ वाय उद॒केनेहि॑।
आ॒दि॒त्या रु॒द्रा वस॑व उन्दन्तु सचे॑तस॒ः सोम॑स्य॒ राज्ञो॑ वपत॒ प्रचे॑तसः॥ १॥

१. **अयं सविता**=यह जन्म देनेवाला पिता **क्षुरेण आगमत्**=अज्ञानान्धकाररूप केशों के वपन के साधनभूत शस्त्र के साथ आ गया है। **वायो**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आचार्य! तू **उष्णेन उदकेन**=(उष दाहे) सब बुराइयों को दग्ध कर देनेवाले ज्ञान-जल को लेकर **इहि**=हमें प्राप्त हो। २. **आदित्याः**=सब गुणों का आदान करनेवाले, **रुद्राः**=(रुत् द्र) सब रोगों को दूर भगानेवाले, **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले **सचेतसः**=ज्ञानी पुरुष **उन्दन्तु**=ज्ञान-जलों से हमारे मस्तिष्कों को क्लिन्न करें। हे **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले आचार्यो! आप **सोमस्य राज्ञः**=इस सोमशक्ति (वीर्य) का रक्षण करनेवाले, इन्द्रियों के शासक जितेन्द्रिय शिष्य के **वपत्**=अज्ञान का वपन करने की कृपा करें।

भावार्थ—जन्मदाता पिता बालक के अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करे। बुराइयों को दूर करनेवाले आचार्य बुराइयों को दग्ध करनेवाले ज्ञान-जल के साथ प्राप्त हों। ये हमें गुणों का आदान करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनाएँ और सोम का रक्षण करनेवाले जितेन्द्रिय

शिष्यों के अज्ञान को दूर करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वास्थ्य, वीर्य, उत्तम राजप्रबन्ध

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे॥ २॥

१. **अदितिः**=स्वास्थ्य का अखण्डन **श्मश्रु**=(श्मनि श्रितम्) शरीरस्थ प्रत्येक रोग को **वपतु**=उच्छिन्न कर दे। **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण **वर्चसा उन्दन्तु**=हमें प्राणशक्ति से क्लिन्न करें। हमारा शरीर वीर्यकणों के रक्षण से प्राणशक्ति से पूर्ण हो ताकि यह रोगों का शिकार न होकर स्वस्थ बना रहे। २. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **चिकित्सतु**=राष्ट्र में होनेवाले सब उपद्रवों का अपनय (इलाज) करे, जिससे सब प्रजावर्ग **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवी हो तथा **चक्षसे**=ज्ञान-चक्षुओं से युक्त हो सके।

भावार्थ—स्वास्थ्य की देवता हमारे सब रोगों को उच्छिन्न करे। सुरक्षित रेतःकण हममें प्राणशक्ति का सञ्चार करें। राजा सब उपद्रवों को दूर करे, जिससे सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाजन दीर्घजीवी व ज्ञानी हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भात्रिष्टुप्**॥

गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान्

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥ ३॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी **सविता**=जन्मदाता पिता—समझदार पिता **येन क्षुरेण**=जिस अज्ञानान्धकार-रूप केशों के वपन के साधनभूत शस्त्र से इस **सोमस्य**=सौम्य स्वभाववाले—सोम (वीर्य) के रक्षक **राज्ञः**=इन्द्रियों पर शासन करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले सन्तान के **अवपत्**=अन्धकाररूप केशों का छेदन करता है, **तेन**=उस शस्त्र से हे **ब्रह्माणः**=ज्ञानी आचार्यो! आप भी **अस्य**=इस सोम राजा के—इस जीव के **इदम्**=इस अज्ञानान्धकार को **वपत्**=उच्छिन्न करने की कृपा कीजिए। २. इस अज्ञानान्धकार के छेदन से **अयम्**=यह **गोमान्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **अश्ववान्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला तथा **प्रजावान्**=गृहस्थ होने पर उत्तम सन्तानोंवाला **अस्तु**=हो।

भावार्थ—विद्यार्थी सौम्य, जितेन्द्रिय व निर्देष हो। ज्ञानी आचार्य तथा समझदार पिता इनके अज्ञानान्धकारों को दूर करें। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले व सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तानोंवाले हों।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)**॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशः+मधु

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद्यशः। सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि॥ १॥

१. **गिरौ**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले ब्राह्मणों में **अर-ग-राटेषु**=(अराः, अरय तान् गच्छन्ति इति अरगाः, तेषां राटाः जयघोषा) वीर क्षत्रियों के जयघोषों में, **हिरण्ये**=स्वर्ण में—कृषि-गोरक्षा व वाणिज्य द्वारा स्वर्ण का संग्रह करनेवाले वैश्यों में तथा **गोषु**=गौओं में—गो-सेवक शूरों में **यत् यशः**=जो यशस्वी जीवन है **तत् मयि**=वह यशस्वी जीवन मुझे भी प्राप्त हो। २.

सिच्यमानायाम्=पर्जन्य द्वारा सिक्त किये जाते हुए **सुरायाम्**=जल में (सुरा=water) तथा **कीलाले**=इन जलों से उत्पन्न अन्न में जो **मधु**=माधुर्य है, वह मुझमें भी हो।

भावार्थ—स्वकर्त्तव्यपालक 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र' का जो यशस्वी जीवन है वह यशस्वी जीवन मेरा भी हो। मेघ-जल और उनसे उत्पन्न अन्नों में जो माधुर्य है, इनके सेवन से वह माधुर्य मुझमें भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधु से माधुर्य की प्राप्ति

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शुभस्पती**=सब शुभ का मुझमें रक्षण करनेवाले हो। **मा**=मुझे **सारघेण मधुना**=मधु-मक्खियों से तैयार किये गये मधु से **अङ्क्तम्**=कान्त जीवनवाला बनाओ। हम प्राणायाम करें और सारघ मधु का सेवन करें, इससे हमारा जीवन भी शुभ ही बनेगा। २. मुझे मधु का सेवन कराओ **यथा**=जिससे **भर्गस्वीतम्**=दीप्तिमती मधुर **वाचम्**=वाणी को **जनान् अनु**=लोगों को लक्ष्य करके **आवदानि**=उच्चारित करूँ। मैं कभी भी कटु शब्दों का प्रयोग करनेवाला न बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ मधु का प्रयोग मुझे मधुर बनाए। इस मुध के प्रयोग से मैं भर्गस्वती वाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्चः, यशः, यज्ञस्य पयः—ज्ञान

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ ३॥

१. **मयि**=मेरे जीवन में **वर्चः**=वर्चस् (Vitality) प्राणशक्ति हो, **अथ उ**=और निश्चय से **यशः**=यश हो—मेरे सब कार्य यशस्वी हों, **अथ उ**=और अब **यज्ञस्य**=यज्ञ की **यत्**=जो **पयः**=आप्यायनशक्ति है, वह **मयि**=मुझमें हो। २. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु इन 'वर्चस्, यशस् व यज्ञपयस्' को मेरे जीवन में इसप्रकार **दृंहतु**=दृढ़ करे **इव**=जैसेकि **दिवि द्याम्**=द्युलोक में दीप्यमान ज्योतिमण्डल को वे दृढ़ करते हैं। प्रभु मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्रों को स्थापित करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन वर्चस्, यशस्, यज्ञपयस् व ज्ञानवाला हो।

विशेष—वर्चस्, यशस्, यज्ञपयस् व ज्ञान को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'कांकायन'(कंक गतौ) खूब गतिशील बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अघ्न्या** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अघ्न्या और वत्स

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ १॥

यथा॑ ह॒स्ती ह॑स्ति॒न्याः प॒देन॑ प॒दमु॒द्यु॒जे।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम्॥ २॥
यथा॑ प्र॒धिर्यथो॑प॒धिर्यथा॒ नभ्यं॑ प्र॒धावधि॑।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम्॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **मांसम्**=फल का गूदा **यथा**=जैसे **सुरा**=मेघजल और **यथा**=जैसे **अधिदेवने**=(अधि परि दीव्यन्ति कितवः) द्यूत-स्थान में **अक्षाः**=पासे प्रियतम होते हैं और **यथा**=जैसे **वृषण्यतः पुंसः**=सुरतार्थी पुरुष का **मनः**=मन **स्त्रियां निहन्यते**=स्त्री के प्रति झुकाववाला होता है **एव**=उसी प्रकार हे **अघ्न्ये**=कभी भी नष्ट न करने योग्य वेदवाणि! **ते**=तेरा **मनः**=मन **अधिवत्से**=(वदति) इस स्वाध्यायशील व्यक्ति पर **निहन्यताम्**=प्रह्वीभूत हो। जिस प्रकार मांस आदि प्रेमास्पद होते हैं, इसीप्रकार मैं वत्स तेरा प्रेमास्पद बन पाऊँ, अर्थात् मैं कभी तुझसे पृथक् न होऊँ। २. **यथा**=जैसे **हस्ती**=हाथी **हस्तिन्याः पदम्**=हथिनी के पैर को **पदेन**=अपने पैर से प्रेमपूर्वक **उद्युजे**=ऊपर उठाता है, जैसे सुरतार्थी पुरुष का मन स्त्री के प्रति प्रेमवाला होता है, उसी प्रकार इस वेदवाणी का मन मेरे प्रति प्रेमवाला हो। ३. **यथा**=जैसे **प्रधिः**=लोहे का हल लकड़ी के बने भीतरी चक्र पर रहता है, **यथा**=जैसे **उपधिः**=लकड़ी का चक्र अरों के द्वारा भीतरी धुरे पर रहता है, **यथा नाभ्यम्**=जैसे बीच का धुरा **अधिप्रधौ**=क्रम से अरों और लकड़ी के चक्रसहित अरों पर आ जाता है। जैसे सुरतार्थी पुरुष का मन स्त्री पर गड़ा होता है, उसी प्रकार वेदवाणी का मन मुझ (वत्स) पर गड़ा हो।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन ही हमारा मांस हो, यही हमारी शराब वा मेघजल हो। यही हमारी द्यूतक्रीड़ा हो, यही हमारा प्रेमालिङ्गन हो। वेदवाणी हथिनी हो तो मैं उसका हाथी बनूँ। प्रधि, उपधि, नभ्य आदि जैसे परस्पर जुड़े होते हैं उसी प्रकार मैं और वेदवाणी जुड़े हुए हों। मैं कभी वेदाध्ययन का परित्याग न करूँ। वेदवाणी अघ्न्या गौ हो, मैं उसका वत्स (बछड़ा) बनूँ।

विशेष—यह वेदवाणी का वत्स 'ब्रह्मा' बनता है—ज्ञानी बनता है। यही ज्ञानी अन्नदोष व प्रतिग्रहदोष से बचने के लिए यत्नशील होता है।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'अन्नदोष व प्रतिग्रहदोष' परिहार

यदन्न॒मद्मि॑ बहु॒धा वि॒रूप॑ं हिर॑ण्य॒मश्व॑मु॒त गाम॒जामवि॑म्।
यदे॒व किं च॑ प्रतिज॒ग्रहा॒हम॒ग्निष्टद्धो॒ता॒ सु॒हु॒तं कृ॑णोतु॥ १॥

१. **यत्**=जो **विरूपम्**=विविधरूपोंवाले **अन्नम्**=अन्न को **बहुधा**=बहुत प्रकार से **अहम् अद्मि**=मैं खा लेता हूँ। भूख की पीड़ा के कारण और भोज्याभोज्य विभाग के बिना जो मैंने खा लिया है, **तत्**=उस मेरे अन्नदोष को वह **होता अग्निः**=सब वस्तुओं को देनेवाला अग्रणी प्रभु **सुहुतं कृणोतु**=सुहुत करे। विवशता में मैं कुछ खा बैठूँ तो प्रभु के अनुग्रह और प्रेरणा से उसे यज्ञ का रूप देने का प्रयत्न करूँ—त्याग करके बचे को ही खाऊँ। २. इसीप्रकार मैं **हिरण्यम्**=सोना, **अश्वम्**=घोड़ा **उत**=और **गाम् अजाम् अविम्**=गौ, बकरी व भेड़ **यत् किंच**

एव=जो कुछ भी—अस्वीकरणीय को भी दरिद्र्यवश **प्रतिजग्रह**=ग्रहण कर लूँ, उसे वह सर्वप्रद अग्रणी प्रभु सुहुत करने की कृपा करें। प्रभुकृपा से मैं व्रत ग्रहण करूँ कि 'अभक्ष्य को नहीं खाऊँगा तथा अन्याय्य धन का ग्रहण नहीं करूँगा'।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे अन्नदोष व प्रतिग्रहण दोष दूर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यज्ञ-विनियोग द्वारा ही उपयोग

यन्मा॑ हु॒तमहु॑तमाज॒गाम॑ द॒त्तं पि॒तृभि॒रनु॑मतं मनु॒ष्यै ऽः।
यस्मा॑न्मे॒ मन॒ उदि॑व॒ रार॑जीत्य॒ग्निष्टद्धो॒ता सु॒हु॑तं कृणोतु॥ २॥

१. **यत्**=जो **हुतम्**=यज्ञिय अथवा **अहुतम्**=अयज्ञिय धन **मा**=मुझे **आजगाम्**=प्राप्त हुआ है, जो **पितृभिः दत्तम्**=मुझे अपने से बड़ों—पिता आदि से दिया गया है, जो **मनुष्यैः अनुमतम्**=मनुष्यों से अनुमत हुआ है, अर्थात् जिसमें समाज दोष नहीं देखती। **यस्मात्**=जिससे मे **मनः**=मेरा मन **उत् रारजीति इव**=खूब ही दीप्त-सा होता है, **तत्**=उस सब धन को वह **होता अग्निः**=सर्वप्रद अग्रणी प्रभु **सुहुतं कृणोतु**=सुहुत करने की कृपा करें। मैं उस धन का यज्ञों में विनियोग करके ही उपयोग करूँ।

भावार्थ—हम प्राप्त धनों का यज्ञों में विनियोग करके ही उपयोग करें।

ऋषिः—**ब्रह्मः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न अनृत से, न उधार लेकर

यदन्न॒मद्म्यनृ॑तेन देवा दा॒स्यन्न॒दास्य॑न्नु॒त सं॑गृ॒णामि॑।
वै॒श्वा॒न॒रस्य॑ महतो म॑हि॒म्ना शि॒वं म॒ह्यं म॑धु॒मद॒स्त्वन्न॑म्॥ ३॥

१. हे **देवाः**=देवो—विद्वान् पुरुषो! **यत् अन्नम्**=जिस अन्न को मैं **अनृतेन**=असत्य बोलकर, पराये व्यक्ति का अपहृत करके **अद्मि**=खाता हूँ, **उत**=तथा **दास्यन् अदास्यन्**=जो पदार्थ दूसरे को देना है, उसे दे नहीं रहा हूँ, यूँही **संगृणामि**='दूँगा' बस, इतनी प्रतिज्ञा ही करता हूँ, वह सब **अन्नम्**=अन्न **वैश्वानरस्य**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले महतो महान् महिमावाले देव की **महिम्ना**=महिमा से **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवम्**=सुखकर व **मधुमत् अस्तु**=माधुर्यवाला हो, अर्थात् प्रभु ऐसा अनुग्रह करें कि बिना अनृत के, बिना औरों से उधार लिये पुरुषार्थ से अपने भोजन का अर्जन कर सकूँ।

भावार्थ—हम अनृत से प्राप्त भोजन को अशिव समझें, औरों से उधार लेकर खाने को 'कटु' जानें। पुरुषार्थ से ही अपना भोजन अर्जन करने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—पवित्र भोजन से स्थिरवृत्तिवाला बनता हुआ 'अथर्वा' अगले सूक्तों का ऋषि है—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**शेपोऽर्कः**॥ छन्दः—**जगती**॥

असितः, शेपः, अर्कः

यथा॑सि॒तः प्र॒थय॑ते॒ वशाँ॒ अनु॒ वपू॑षि कृ॒ण्वन्नसु॑रस्य मा॒यया॑।
ए॒वा ते॒ शेप॒ः सह॑सा॒यम॒र्कोऽङ्गे॑नाङ्गं॑ संस॑मकं कृणोतु॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **असितः**=विषयों में अबद्ध राजा **वशान् अनु**=जितना-जितना अपनी इन्द्रियों को वश में करता है, उतना-उतना **प्रथयते**=अपने राज्य को विस्तृत करता है। यह राजा **अ-**

सुरस्य=(प्रज्ञा—नि० ३.९) प्रज्ञा के पुञ्ज प्रभु की **मायया**=प्रज्ञा से **वपूंषि कृण्वन्**=अपने शरीरों का निर्माण करता है। अपने स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीरों को ठीक करता हुआ यह राजा अपने राष्ट्र को भी विस्तृत करता है। २. **एव**=इसप्रकार हे राष्ट्र! **ते शेपः**=तेरा निर्माण करनेवाला **अर्कः**=प्रभु का उपासक यह राजा **सहसा**=शक्ति के द्वारा **अङ्गेन अङ्गम्**=राष्ट्र के एक अङ्ग को दूसरे अङ्ग से **सं सम् अकम्**=मिलकर गति करनेवाला **कृणोतु**=करे। राष्ट्र के सब विभागों में परस्पर समन्वय (co-ordination) होना आवश्यक ही है।

भावार्थ—राजा विषयों से अबद्ध (असित्) हो, अपनी इन्द्रियों को वश में करता हुआ राष्ट्र का निर्माण करनेवाला हो (शेपः), प्रभुपूजा की वृत्तिवाला हो (अर्कः)। अपने शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ राज्य के सब अङ्गों में समन्वय करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**शेपोऽर्कः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

राष्ट्र का संवर्धन

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः॥ २॥

१. हे राजन्! तू इसप्रकार राष्ट्र के अङ्गों में समन्वय कर **यथा**=जिससे यह **पसः**=राष्ट्र **अरम् तायात्**=खूब ही विस्तारवाला व पालित हो। यह राष्ट्र **वातेन**=क्रियाशीलता के द्वारा (परस्पर समन्वय न होने पर काम ठप्प-सा हो जाता है) **स्थूलभम्**=खूब दीप्तिवाला **कृतम्**=किया जाए (स्थूला भा यस्य)। २. **यावत्**=जितना **परस्वतः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन करनेवाला राजा का **पसः**=राष्ट्र होता है **तावत्**=उतना **ते पसः**=तेरा राष्ट्र **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—राष्ट्र के अङ्गों में परस्पर समन्वय होने पर राष्ट्र का विस्तार होता है। क्रियाशीलता द्वारा राष्ट्र चमक उठता है। जितना राजा पालन कर पाता है, उतना ही उसका राष्ट्र बढ़ता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**शेपोऽर्कः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

यावदङ्गीनम्

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनस्तावत्ते वर्धतां पसः॥ ३॥

१. **पारस्वतम्**=पालन करनेवाले का राष्ट्र **यावत् अङ्गीनम्**=जितना ठीक अङ्गोंवाला होता है, उतना ही **हास्तिनम्**=यह उत्तम हाथियोंवाला होता है **च**=और **यत्**=जो यह राष्ट्र है वह **गार्दभम्**=उत्तम गर्दभोंवाला—उत्तम भारवाही पशुओंवाला होता है। २. **यावत्**=जितना **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली राजा का राष्ट्र होता है, **तावत्**=उतना **ते पसः**=तेरा राष्ट्र **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे।

भावार्थ—राष्ट्र के अङ्गों में परस्पर समन्वय होने पर वहाँ हाथी-घोड़े आदि पशु भी उत्तम होते हैं। राजा जितना-जितना कर्मों में व्याप्त और शक्तिशाली होता है, उतना-उतना उसका राष्ट्र बढ़ता है।

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

उत्तम लोगों का सम्पर्क

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः॥ १॥

१. **इह**=इस देश में **वरुणः**=द्वेषादि का निवारण करनेवाला **सोमः**=सौम्य स्वभाव—निरभिमान, **अग्निः**=आगे-और-आगे बढ़नेवाला, अग्निवत् तेजस्वी (पावकवर्ण) पुरुष **आयातु**=आये,

हमें ऐसे पुरुष का सम्पर्क प्राप्त हो। **बृहस्पतिः**=महान् ज्ञानी पुरुष सब साधनों के साथ हमें प्राप्त हो। आचार्य शिष्यों से कहते हैं कि हे **सजाताः**=समान जन्मवाले बन्धुओ! तुम **सर्वे**=सब **संमनसः**=समान मनवाले होते हुए **अस्य उग्रस्य चेत्तुः**=इस तेजस्वी ज्ञानी की **श्रियम्**=श्री को **उपसंयात**=प्राप्त होओ, इसके सम्पर्क में, इससे ज्ञान प्राप्त करते हुए, उस जैसा ही बनने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—हमें 'वरुण, सोम, अग्नि तथा बृहस्पति' का सम्पर्क प्राप्त हो। ये हमें सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला हों। हम सब भी समान मनवाले होते हुए इस ज्ञानी की श्री को प्राप्त करें। हम भी मन में 'निर्द्वेष व निरभिमान' बनें। शरीर में अग्नि के समान तेजस्वी तथा मस्तिष्क में बृहस्पति हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुष्म, आकूति, हवि व घृत

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीव्यामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ २॥

१. **यः**=जो **वः**=तुम्हारे **हृदयेषु**=हृदयों में **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है, तथा **वः**=तुम्हारे **अन्तः मनसि**=हृदय-मध्यवर्ती मन में **या आकूतिः प्रविष्टा**=जो संकल्प प्रविष्ट है, **तान्**=उन संकल्पों व बलों को **हविषा**=त्याग की वृत्ति तथा **घृतेन**=ज्ञान-दीप्ति से **सीव्यामि**=सम्बद्ध कर देता हूँ। २. हे **सजाताः**—समान जन्मवाले व समानरूप से विकासवाले विद्यार्थियो! **मयि**=मुझमें **वः**=तुम्हारी **रमतिः**=रमण अनुकूल वृत्ति हो। '**वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्**'—[अथर्व० १.१.२] में विद्यार्थी की प्रार्थना थी कि हे वसुओं के पति आचार्य! आप मुझे रमणवाला कीजिए—आनन्दमय प्रकार से पढ़ाइए, जिससे मेरा पढ़ा हुआ मुझमें ही स्थित हो। यहाँ आचार्य भी कहते हैं कि तुम मुझमें रमण करनेवाले होओ। मैं तुम्हें त्यागशील व ज्ञान-दीप्त बनाता हूँ।

भावार्थ—आचार्य को विद्यार्थी के बल व संकल्प को त्यागवृत्ति व ज्ञान-दीप्ति से सम्बद्ध करना है। विद्यार्थियों के मन में त्यागवृत्ति हो और मस्तिष्क में ज्ञान।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भूरिक्त्रिष्टुप्**॥

आचार्य-सान्निध्य

इहैव स्त माप याताध्यस्मत्पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ ३॥

१. हे विद्यार्थी! **इह एव स्त**=यहाँ आचार्यकुल में ही रहो। **अस्मत् अधि मा अपयात**=हमसे दूर मत होओ। 'अन्तःवासी' को तो सदा आचार्य के समीप ही रहना है। आचार्य विद्यार्थी को वस्तुतः अपने गर्भ में धारण करता है। **पूषा**=वह पोषक प्रभु **परस्तात्**=हमसे दूर **वः**=तुम्हारे लिए **अपथं कृणोतु**=मार्ग का अभाव करे, अर्थात् प्रभु के अनुग्रह से हमसे दूर जाने के लिए तुम्हें मार्ग ही न मिले। २. **वास्तोष्पतिः**=गृहपालक देव **वः**=तुम्हें **अनुजोहवीतु**=अनुकूलता से पुकारे (आह्वयतु), अर्थात् जब तुम भिक्षा के लिए जाओ तो गृहपतियों को अच्छा ही प्रतीत हो। तुम्हारा शान्त स्वभाव उन्हें प्रिय लगे और वे प्रेम से तुम्हें भिक्षा दें। गृहस्थों को तुम असभ्य प्रतीत न होओ, और यहाँ **मयि**=मुझमें हे **सजाताः**=समान विकासवाले विद्यार्थियो! **वः**=तुम्हारा **रमतिः**=रमण **अस्तु**=हो। तुम मिलकर प्रेम से अध्ययन करनेवाले बनो।

भावार्थ—विद्यार्थी आचार्य के समीप ही रहें—कभी उससे दूर न हों। गृहपति उन्हें प्रेम से भिक्षा दें। आचार्यकुल में विद्यार्थी प्रेमपूर्वक रहते हुए समानरूप से विकासवाले बनें।

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेल (परस्पर प्रेम)

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ १॥

१. उत्तम शिक्षा को प्राप्त लोग राष्ट्र में प्रेम से रहें। प्रभु कहते हैं कि **वः तन्वः**=तुम्हारे शरीर **संपृच्यन्ताम्**=एक-दूसरे से प्रेम से मिला करें—आप परस्पर प्रेम से आलिङ्गन किया करो—राष्ट्र में कन्धे-से-कन्धे मिलाकर चलो। **मनांसि सम्**=आप लोगों के मन भी मिले हुए हों—हृदयों में प्रेम हो नकि द्वेष। **उ**=और **व्रता सम्**=आप लोगों के कर्म भी मिलकर हों—एक-दूसरे के लिए सहायक हों। २. **अयम्**=यह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हें **सम् अजीगमत्**=सदा संगत रक्खे तथा **वः**=तुम्हें **भगः**=यह ऐश्वर्यवान् प्रभु **सम्**=मिलाये रक्खे। सब लोग ज्ञान-सम्पन्न बनें और उचित ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर रहें।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक है कि लोग परस्पर प्रेम से मिलें, उनके मनों में द्वेष न हो। उनके कर्म अविरोधी हों। ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हुए सब मिलकर चलें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञान व ऐश्वर्य

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥ २॥

१. **वः**=तुम्हारे **मनसः**=ज्ञान-साधन मनरूप इन्द्रिय का **संज्ञपनम्**=सम्यक् ज्ञान-जनन हो। तुम्हारे मन ज्ञान-प्राप्ति में सम्यक् प्रवृत्त हों, **अथ उ**=अब निश्चय से **हृदः**=तुम्हारे हृदय का भी **संज्ञपनम्**=सम्यक् ज्ञान-जनन हो, तुम्हारे हृदयों में ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धा हो। २. **अथ उ**=अब ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् गृहस्थ बनने पर **भगस्य यत् श्रान्तम्**=ऐश्वर्य का जो श्रमजनित तप है (श्राम्यति अस्मिन्) **तेन**=ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए होनेवाले उस श्रम-जनित तप से **वः**=तुम्हें **संज्ञपयामि**=समान ज्ञानवाला करता हूँ। वस्तुतः जब तक राष्ट्र में 'श्रम से धन-प्राप्ति की भावना' बनी रहती है तब तक लोगों में परस्पर प्रेम भी बना रहता है।

भावार्थ—हमारे मन व हृदय ज्ञान-प्राप्ति के कर्म में सम्यक् प्रवृत्त हों। हम सदा श्रमपूर्वक ही धनार्जन की वृत्तिवाले बनकर परस्पर प्रेम से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

चातुर्वर्ण्य का परस्पर मेल

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः।
एवा त्रिंणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान्त्संमनसस्कृधीह॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **आदित्याः**=सूर्यसमान ज्ञान-दीप्त आचार्य **वसुभिः**=उत्तम निवासवाले—आचार्य के समीप प्रेम से रहनेवाले विद्यार्थियों के साथ **संबभूवुः**=मिलकर रहते हैं तथा **उग्राः**=तेजस्वी राजा—शासक लोग **मरुद्भिः**=सैनिकों के साथ **अहृणीयमानाः**=क्रोध न करते

हुए रहते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **त्रिणामन्**=(नामन्=form, mode, manner) कृषि, गोरक्ष व वाणिज्यरूप तीन प्रकारों से धनार्जन करनेवाले वैश्य! तू **अहृणीयमानः**=क्रोध न करता हुआ **इमान् जनान्**=इन कार्य करनेवाले श्रमिक जनों को **इह**=यहाँ, अपने व्यापार-कर्म में **संमनसः कृधि**=समान मनवाला कर, तेरे साथ प्रेम से मिलकर वे इन कार्यों में तेरे सहायक हों।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थियों के साथ प्रेम से रहें। राजा लोग सैनिकों के साथ एक मनवाले हों। वैश्य शूद्रों के साथ प्रेम से वर्तते हुए धनार्जन करें।

विशेष—इसप्रकार प्रेम से बर्ताव होने पर मनुष्य 'कबन्ध' बनता है—अपने में सुखों को बाँधनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-विद्रावण

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति। नैर्बाध्ये ∫ न हविषेन्द्र एनं पराशरीत्॥ १॥

१. **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **अमुम्**=उसे **ओकसः**=इस राष्ट्र से **निर् नुद**=धकेल कर बाहर कर दे **यः सपत्नः**=जो शत्रु **पृतन्यति**=सेना के द्वारा हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करता है। २. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक राजा **नैर्बाध्येन**=शत्रुओं के निर्बाधन में क्षम **हविषा**=हवि के द्वारा—प्रजा से राष्ट्र-यज्ञ में दिये जानेवाले कररूप धन के द्वारा **एनम्**=इस शत्रु को **पराशरीत्**=सुदूर विनष्ट करे। राजा कर-प्राप्त धन को अन्तः व बाह्य शत्रु से राष्ट्र-रक्षण में विनियुक्त करता है।

भावार्थ—राजा प्रजा से कर प्राप्त करता हुआ राष्ट्र का शत्रुओं से रक्षण करे।

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दूर-से-दूर धकेलना

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा। यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥

१. **वृत्रहा**=राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं को नष्ट करनेवाला यह **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा **तम्**=उस शत्रु को **परमां परावतम्**=अतिशयित दूर देश में **नुदतु**=धकेल दे कि **यतः**=जहाँ से वह **शश्वतीभ्यः समाभ्यः**=अनेक वर्षों तक भी **पुनः न आयति**=फिर हमारे राष्ट्र पर चढ़ने के लिए न आ पाये।

भावार्थ—शत्रु को इसप्रकार दूर देश में धकेला जाए कि वह फिर वर्षों तक हमारे राष्ट्र पर आक्रमण का स्वप्न भी न ले।

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

शत्रु फिर आक्रमण न कर सके

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत्सूर्यो असद्दिवि॥ ३॥

१. इन्द्र से धकेला हुआ यह शत्रु **परावतः**=दूर वर्तिनी **तिस्रः**=तीनों भूमियों को **अतिएतु**=लाँघकर दूर चला जाए ('त्रयो व इमे त्रिवृतो लोकाः'—ऐत० २.१७; तिस्रो भूमीर्धारयान्—ऋ० २.२७.८)। यह **पञ्चजनान्**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद' रूप से पाँच भागों

में बँटे हुए लोगों को **अति**=लाँघ जाए, अर्थात् समाज से इसका मेल न हो। यह **तिस्रः रोचना अति एतु**=सूर्य, विद्युत्, अग्निरूप तीनों ज्योतियों से अतिक्रान्त होकर गति करे—इसे उस स्थान पर कैद में रक्खा जाए, जहाँ सूर्यादि की प्रभा प्राप्त नहीं होती। २. इसे ऐसे स्थान पर बन्धन में डालकर रखा जाए कि **यतः**=जहाँ से यह **न पुनः आयति**=फिर हमपर आक्रमण नहीं कर पाता। **शश्वतीभ्यः समाभ्यः**=बहुत वर्षों तक यह हमपर आक्रमण का स्वप्न भी न ले-सके। **यावत्**=जब तक **सूर्यः दिवि असत्**=सूर्य द्युलोक में है, तब तक यह शत्रु फिर लौटकर न आये।

भावार्थ—शत्रु को तीनों भूप्रदेशों से दूर किया जाए, मानव-समाज से इसे परे किया जाए, इसे अन्धकारमय स्थानों में बन्धन में रखा जाए, जिसे यह फिर हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके।

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**सान्तपनाग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नि का समिन्धन

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे। संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि॥ १॥

१. **ये**=जो **एनम्**=इस परमात्मरूप अग्नि के **परिषीदन्ति**=उपासन के लिए आसीन होते हैं तथा **चक्षसे**=आत्मदर्शन के लिए **समादधति**=इन्द्रियों को समाहित करते हैं, उस समय **हृदयात् अधि**=हृदयदेश **संप्रेद्धः**=दीप्त हुआ-हुआ **अग्निः जिह्वाभिः उदेतु**=यह परमात्मरूप अग्नि उपासकों की जिह्वाओं से उदित हो—उपासकों की जिह्वाओं से प्रभु के नामों का उच्चारण हो।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए हम प्रभु की उपासना करें, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उन्हें समाहित करें, वाणी से प्रभु के नामों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**सान्तपनाग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सान्तपन' अग्नि

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे।
अब्द्रातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः॥ २॥

१. **अग्नेः**=उस अग्रणी **सांतपनस्य**=अतिशयेन ज्ञान-दीप्त प्रभु के **पदम्**=वाचक पद को **अहम्**=मैं **आयुषे**=उत्कृष्ट जीवन के प्राप्ति के लिए **आरभे**=उपक्रान्त करता हूँ—प्रभु के नामों का उच्चारण करता हूँ। २. **अब्द्रातिः**=(अद्धा प्रत्यक्षमतति, सततं ध्यानेन प्राप्नोति) ध्यान द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति **यस्य**=उस प्रभु के **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले (धू कम्पने) ज्ञान को **आस्यतः**=अपने मुख से **उद्यन्तम्**=उद्गत होते हुए **पश्यति**=देखता है। हृदयस्थ प्रभु का ज्ञान इस अद्धाति के मुख से उच्चरित होता है। यह ज्ञान वासनाओं का संहार करनेवाला है।

भावार्थ—हम 'सान्तपन अग्नि'—ज्ञानदीप्त प्रभु के नामों का उच्चारण करें। इसप्रकार हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करें। यदि हम प्रभु का साक्षात्कार कर पाये तो हृदयस्थ प्रभु का ज्ञान हमारे मुखों से उच्चरित होगा।

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**सान्तपनाग्निः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम्। नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे॥ ३॥

१. **क्षत्रियेण**=(क्षत्रं बलम्) बल में उत्तम पुरुष से **समाहितम्**=हृदय में स्थापित की गई

अस्य=इस 'सान्तपन अग्नि' प्रभु की **समिधम्**=दीप्ति को **यः वेद**=जो जानता है, अर्थात् एक सबल पुरुष जब हृदय में प्रभु-दर्शन करता है तब **सः**=वह **अभिह्वारे**=कुटिलता के मार्ग में **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए **पदं न निदधाति**=पग नहीं रखता।

भावार्थ—एक क्षत्रिय—भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा सबल पुरुष हृदय में प्रभु की दीप्ति को देखता है। यह प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति कभी कुटिलता के मार्ग में पग नहीं रखता। कुटिलता को यह मृत्यु का मार्ग समझता है—'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्'।

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**सान्तपनाग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न पर्यायिणः, न सन्नाः

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नामं गृह्णात्यायुषे॥ ४॥

१. **यः**=जो **क्षत्रियः**=उत्तम बलवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **आयुषे**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन के लिए **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु का **गृह्णाति**=नाम लेता है—नाम का उच्चारण करता है, **एनम्**=इस प्रभु के उपासक को **पर्यायिणः**=चारों ओर से आनेवाले शत्रु **न घ्नन्ति**=हिंसित नहीं करते। यह **सन्नान्**=उन शत्रुओं को समीपस्थरूप में भी न **अवगच्छति**=नहीं जानता, अर्थात् शत्रु इसके समीप स्थित होने में भी समर्थ नहीं होते।

भावार्थ—जो शक्तिशाली ज्ञानी पुरुष प्रभु के नाम का स्मरण करता है, उसपर शत्रु आक्रमण नहीं करते—उसके समीप आने का भी साहस नहीं करते।

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मर्यादा में स्थिति

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठपम्॥ १॥

१. **द्यौः अस्थात्**=उस नियन्ता प्रभु की आज्ञा से द्युलोक अपने स्थान में स्थित है, **पृथिवी अस्थात्**=पृथिवी भी अपने स्थान में स्थित है। इस द्यावापृथिवी के मध्य में वर्त्तमान **इदं विश्वं जगत्**=यह सारा जगत् **अस्थात्**=अपने-अपने स्थान में स्थित है। **पर्वताः**=पर्वत भी **आस्थाने**=ईश्वर के कल्पित स्थान में **अस्थुः**=स्थित हैं। २. मैं भी **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **स्थाम्नि**=(fixity, stability) स्थिरता में **अतिष्ठिपम्**=स्थापित करता हूँ, इन्द्रियाश्वों को भटकने से रोककर कर्त्तव्यकर्मों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सारा संसार अपनी-अपनी मर्यादा में गति कर रहा है। हम भी इन्द्रियाश्वों को भटकने से रोककर कर्त्तव्यकर्मों में स्थापित करें।

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आवर्तनं निवर्तनम्

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे॥ २॥

१. **यः**=जो **गोपाः**=हमारी इन्द्रियों का रक्षक प्रभु **परायणम्**=परम स्थान मोक्ष को—ऊँचे-से-ऊँचे लोकों को भी व्याप्त कर रहा है और **यः**=जो **न्यायनम् उदानट्**=निचले लोकों को भी

व्याप्त कर रहा है, वह प्रभु ही **आवर्तनम्**=विविध योनियों में हमारे आवर्तन को तथा **निवर्तनम्**=योनियों से निवृत्त होकर मोक्ष-प्राप्ति को व्याप्त करता है, **अपि तं हुवे**=क्या मैं उसे पुकारूँगा? क्या मेरे जीवन में वह शुभ दिन आएगा जबकि मैं उस प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—वह शुभ दिन होगा जब मैं इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उस प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँगा। वे प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं। वे ही हमें विविध शरीरों में जन्म व मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कबन्धः**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आवृतः-उपावृतः

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **निवर्तय**=हमें इस योनि-भ्रमण से लौटाकर मोक्ष में स्थित कीजिए। हमारे जीवनों में **ते**=आपके **शतम् आवृतः सन्तु**=सैकड़ों आवर्तन हों—हम आपका ही बारम्बा स्मरण करें। **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों ही **उपावृतः**=समीप आवर्तन-सान्निध्य—उपस्थान हों। हम सदा आपकी उपासना करें। २. **ताभिः**=उन आवर्तनों व उपावर्तनों से—नाम-स्मरण व उपासना से **नः**=हमें **पुनः**=फिर **आकृधि**=अपने अभिमुख कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण व उपासन करते हुए इस जन्म-मरण के चक्र में भटकने से बचकर प्रभु की ओर जानेवाले बनें।

विशेष—प्रभु के स्मरण व उपासन से स्थिरवृत्ति का बननेवाला 'अथर्वा' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हविषा रसेन

तेनं भूतेनं हविषायमा प्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम्॥ १॥

१. **तेन**=उस **भूतेन**=(भू प्राप्तौ) भूति व समृद्धि की कारणभूत **हविषा**=हूयमान यज्ञिय पदार्थों से **अयम्**=यह **पुनः**=फिर **आप्यायताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे। गृहपति यज्ञशील हो, यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला हो। इस यज्ञशेष का सेवन अमृत का सेवन है। इससे उसका जीवन बड़ा नीरोग बना रहेगा। २. **याम्**=जिस **जायाम्**=पत्नी को **अस्मै**=इसके लिए **आवाक्षुः**=कन्या के माता-पिता आदि प्राप्त कराते हैं, **ताम्**=उस पत्नी को **रसेन अभिवर्धताम्**=प्रेम के द्वारा यह बढ़ानेवाला हो। पत्नी को पति का उचित प्रेम प्राप्त होता है तो वह सब प्रकार से बढ़ती ही है।

भावार्थ—एक उत्तम गृहपति यज्ञ के द्वारा यज्ञशेष का सेवन करता हुआ दृढ़ाङ्ग बने। पत्नी को यह उचित प्रेम प्राप्त कराता हुआ बढ़ानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पयसा, राष्ट्रेन, रय्या

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ॥ २॥

१. यह गृहपति **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत क्षीर आदि पदार्थों से **अभिवर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे। यह **राष्ट्रेण**=ग्राम आदि की समृद्धि से **अभिवर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे—राष्ट्रोन्नति में अपनी उन्नति समझे। २. **इमौ**=ये दोनों पति-पत्नी **सहस्रवर्चसा**=अपरिमित तेजवाले **रय्या**=धन से **अनुपक्षितौ स्ताम्**=अक्षीण हों।

भावार्थ—गृहस्थ में दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों की कमी न हो, ग्राम आदि सम्पत्ति की कमी न हो तथा तेजस्विता को बढ़ानेवाले धन की कमी न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्वष्टा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयुष्य-साधन व दीर्घजीवन

त्वष्टा जायामजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥ ३॥

१. **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **जायाम्**=पत्नी को—पुत्र को जन्म देनेवाली स्त्री को **अजनयत्**=उत्पन्न करता है। **त्वष्टा**=वह प्रभु ही **अस्यै**=इस जाया के लिए **त्वां पतिम्**=तुझ पति को उत्पन्न करता है। प्रभु ही स्त्री-पुरुष को पति-पत्नीभाव के लिए उत्पन्न करते हैं। २. **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु **सहस्रम् आयूंषि**=शतशः जीवन-साधनों को और उनके द्वारा **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन को **वां कृणोतु**=आप दोनों के लिए करे।

भावार्थ—प्रभु ही पुरुष-स्त्री के पति-पत्नीभाव को करते हैं। प्रभु ही दीर्घजीवन के शतशः साधनों को प्राप्त कराके उनके दीर्घ जीवन को सिद्ध करते हैं।

७९. [एकोनशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**संस्फानम्**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

यज्ञ व अन्नोत्पत्ति

अयं नो नभस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः॥ १॥

१. **अयम्**=यह **नः**=हमारा हविर्धानों (पूजागृहों) में परिदृश्यमान यज्ञाग्नि हवि द्वारा **नभसः पतिः**=द्युलोक का पालन करनेवाला है—'**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**'। **संस्फानः**=पर्जन्यों द्वारा वृष्टि कराके धान्यराशि का वर्धयिता यह अग्नि हमारा **अभिरक्षतु**=वर्धन करनेवाला हो। यह स्वास्थ्य भी दे और सौमनस्य भी प्राप्त कराए। २. यह यज्ञाग्नि **नः**=हमारे **गृहेषु**=घरों में **असमातिम्**=(मातिः मानं तया सह समातिः, न समातिः) परिच्छेदरहित धान्य आदि को करे।

भावार्थ—सभी घरों में यज्ञाग्नि प्रज्वलित हो। यह यज्ञाग्नि मेघों को जन्म देती हुई वृष्टि के द्वारा खूब ही अन्न प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**संस्फानम्**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

ऊर्ज, पुष्टं, वसु

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु॥ २॥

१. हे **नभसस्पते**=हवि द्वारा द्युलोक का पालन करनेवाले यज्ञाग्ने! **त्वम्**=तू **नः**=हमारे **गृहेषु**=घरों में **ऊर्जम्**=बलकर, रसवत् अन्न को **धारय**=धारण कर। २. तेरे द्वारा हमें **पुष्टम्**=स्वस्थ, पुष्टियुक्त प्रजा, पशु **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हों तथा **वसु आ**=निवास के लिए आवश्यक उत्तम पदार्थ व धन प्राप्त हो।

भावार्थ—यज्ञों से अन्न-रस, पुष्ट प्रजा, पशु व वसुओं की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**संस्फानम्**॥ छन्दः—**त्रिपदाप्राजापत्यागायत्री**॥

देव संस्फान

देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ ३॥

१. हे **देव**=हमारे सब रोगों को जीतने की कामनावाले [मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्], **संस्फान**=धान्यराशि के वर्धयितः यज्ञाग्ने! तू **सहस्रपोषस्य**=हज़ारों प्रजाओं के पोषक धनों का **ईशिषे**=ईश है, **तस्य नो रास्व**=वह धन हमें प्रदान कर, **तस्य**=उस धन के भाग को **नः धेहि**=हमारे लिए धारण कर। ते आपके **तस्य**=उस धन के भाग का **भक्तिवांसः स्याम**=हम सेवन करनेवाले हों।

भावार्थ—यह यज्ञाग्नि हमारे रोगों को जीतती है, शतशः पोषणों को प्राप्त करानेवाले धनों को देती है। हम भी यज्ञाग्नि से पोषक धनों के भागों को प्राप्त करें।

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

दिव्या 'श्वा'

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ १॥

१. प्रभु दिव्य हैं, प्रकाशमय हैं, सब गुणों के पुञ्ज हैं, 'श्वा' हैं—गतिशीलता के द्वारा बढ़े हुए हैं। ये प्रभु **विश्वा भूता अवचाकशत्**=सब प्राणियों को देखते हुए **अन्तरिक्षेण पतति**=हृदयान्तरिक्ष में गति करते हैं, हृदयस्थरूपेण सबके कर्मों को देख रहे हैं और सबका ध्यान कर रहे हैं। २. उस **दिव्यस्य शुनः**=प्रकाशमय वर्धमान प्रभु का **यत् महः**=जो तेज है, **तेन**=उस तेज के हेतु से हे प्रभो! आपका **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा पूजन करें। त्यागपूर्वक अदन ही हवि है। इसके द्वारा ही प्रभुपूजन होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। यह हवि ही हमारे जीवनों को प्रकाशमय व गति द्वारा वृद्धिवाला बनाती है।

भावार्थ—हृदयस्थरूपेण प्रभु हम सबके कर्मों को देख रहे हैं। प्रभु का हवि द्वारा पूजन करते हुए हम दिव्य व गति द्वारा वृद्धिवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्रयः कालकाञ्जाः

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवाइव श्रिताः। तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये॥ २॥

१. **ये**=जो **त्रयः**=तीन **कालकाञ्जाः**=(कालक-अञ्जाः) उस सर्वगणक (कल संख्याने)—सबका काल करनेवाले प्रभु के प्रकाश हैं—'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप से तीन ज्योतियाँ हैं, जो **दिवि**=इस विशाल आकाश में **देवाः इव श्रिताः**=प्रकाशमय पिण्डों के समान आश्रित हैं, **तान् सर्वान्**=उन सबको **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। **अस्मै**=इस **अरिष्टतातये**=अहिंसन के विस्तार के लिए—मैं इन प्रकाशों को पुकारता हूँ। २. मेरा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से प्रकाशित हो, मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं पर विद्युत् के प्रहारवाला हो, मेरा शरीर उचित अग्नितत्त्ववाला हो, ऐसा होने पर ही मैं अहिंसित होऊँगा।

भावार्थ—हम 'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप प्रभु की ज्योतियों को पुकारें। इन्हें जीवन में धारण करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से दीप्त, हृदयान्तरिक्ष वासनाओं पर विद्युत्-प्रहार करनेवाला व शरीर उचित अग्नितत्त्ववाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

अप्सु, दिवि, समुद्रे, पृथिव्याम्

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अप्सु**=रेतःकणों में **ते जन्म**=तेरा प्रादुर्भाव है, अर्थात् रेतःकणों का रक्षण होने पर बुद्धि का दीपन होकर आपका दर्शन होता है। **दिवि ते सधस्थम्**=ज्ञान के प्रकाश में आपका सहस्थान है। ज्ञान का प्रकाश होने पर ज्ञानी प्रकाशमय हृदय में आपके साथ निवास करता है। यह ज्ञानी **समुद्रे पृथिव्याम् अन्तः**=समुद्र में व इस पृथिवी में **ते महिमा**=आपकी महिमा को देखता है। २. आप (दिव्य श्वा) प्रकाशमय, गतिमय व सदा से वर्धमान हैं। उन **दिव्यस्य शुनः**=प्रकाशमय, वर्धमान आपका **यत् महः**=जो तेज हैं, **तेन**=उस तेज के हेतु से **ते**=आपका **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है। प्रकाशमय हृदय में ज्ञानी आपके चरणों में बैठता है। यह समुद्र व पृथिवी में आपकी महिमा को देखता है। आपके तेज को प्राप्त करने के लिए हवि के द्वारा आपका पूजन करता है।

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यन्ता परिहस्तः

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम्॥ १॥

१. गतसूक्त के अनुसार प्रभुपूजन की वृत्तिवाले हे पुरुष! तू **यन्ता असि**=अपने जीवन को नियम में रखनेवाला है। पाणिग्रहण के समय तू **हस्तौ यच्छसे**=अपने हाथों को अपने जीवन साथी के लिए देता है, **रक्षांसि अप सेधिति**=विनाशक तत्त्वों को घर से दूर करता है—अपने मन में भी राक्षसीभावों का उदय नहीं होने देता। २. वस्तुतः **प्रजाम्**=सन्तान को **गृह्णानः**=समीप भविष्य में प्राप्त करनेवाला **अयम्**=यह पुरुष **धनं च**=धन को भी (गृह्णानः) ग्रहण करने के स्वभाववाला—धनार्जन की योग्यतावाला **परिहस्तः अभूत्**=हाथ का सहारा देनेवाला हुआ है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश का मुख्योद्देश्य उत्तम सन्तान की प्राप्ति ही है और गृहस्थ को परिवार के पालन के लिए धन अवश्य कमाना है।

भावार्थ—गृहस्थ में पति का जीवन बड़ा नियमित हो। उसका हृदय राक्षसीभावों से शून्य हो। प्रजा-प्राप्ति की कामनावाला यह धनार्जन की योग्यता से युक्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

मर्यादा से युक्त जीवनवाली माता

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे॥ २॥

१. हे **परिहस्त**=हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष! **तू योनिम्**=सन्तान को जन्म देनेवाली इस पत्नी को **विधारय**=विशेषरूप में धारण करनेवाला हो। तू इसमें **गर्भाय धातवे**=गर्भाधान

करनेवाला हो। २. तू पत्नी से यही कह कि **मर्यादे**=प्रत्येक कार्य को मर्यादा में करनेवाली तू **पुत्रम् आधेहि**=गर्भस्थ सन्तान का सब प्रकार से सम्यक् धारण कर। **तम्**=उस सन्तान को **त्वम्**=तू **आगमे**=ठीक समय पर आगमय=संसार में लानेवाली हो—जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—पति को पत्नी-ग्रहण उत्तम सन्तान के लिए ही करना है। पत्नी को बड़ा मर्यादित जीवन बिताते हुए गर्भावस्था में सन्तान का सम्यक् पोषण करना है और समय पर जन्म देना है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुत्रकाम्या अदिति

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद्यथा पुत्रं जनादिति॥ ३॥

१. **पुत्रकाम्या**=उत्तम सन्तान की कामनावाली **अदितिः**=अखण्डित व्रतवाली यह स्त्री **यम्**=जिस **परिहस्तम्**=हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष को **अबिभः**=धारण करती है, **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **तम्**=उस पुरुष को **अस्यै आबध्नात्**=इसके लिए बाँधे—इसके साथ उस पुरुष के सम्बन्ध को स्थिर करे, **यथा**=जिससे यह **पुत्रं जनात्**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो। **इति**=यही तो इस सम्बन्ध का उद्देश्य है।

भावार्थ—पत्नी को पुत्र की ही कामनावाला होना चाहिए। वह व्रतमय जीवनवाली होगी तो सन्तान भी उत्तम होगी। उसे पतिव्रता होना, जिससे सन्तान भी व्रतमय जीवनवाले हों।

विशेष—धन कमाने की योग्यतावाला यह पुरुष गृहस्थ में प्रवेश करता है। घर को सौभाग्य-सम्पन्न बनानेवाला (गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्), यह पति 'भग' कहलाता है। अगले तीन सूक्तों का ऋषि यह भग ही है।

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'इन्द्र वृत्रहा वासव शतक्रतु'

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः॥ १॥

१. **आयतः**=अतिशयेन यत्नवान् (यती प्रयत्ने) अथवा सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाला (यमु उपरमे) मैं **आगच्छतः**=समन्तात् गतिवाले व **आगतस्य**=आये हुए—हृदयस्थ प्रभु के नाम का **गृह्णामि**=उच्चारण करता हूँ। प्रत्येक गृहस्थ को प्रभु का स्मरण करना ही चाहिए। प्रभु के स्मरण से ही गृहस्थ के भार को उठाने की शक्ति प्राप्त होती है तथा जीवन की पवित्रता बनी रहती है। २. **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली **वृत्रघ्नः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले **वासवस्य**=सब वसुओं से सम्पन्न, **शतक्रतोः**=सैकड़ों, 'शक्तियों, प्रज्ञानों व कर्मों' वाले प्रभु से **वन्वे**=याचना करता हूँ, इस प्रभु से अभिमत पदार्थों की प्रार्थना करता हूँ। वस्तुतः गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले युवक को भी 'इन्द्र, वृत्रहा, वासव व शतक्रतु' बनने का यत्न करना चाहिए। इन्द्र, अर्थात् वह जितेन्द्रिय बने, जितेन्द्रयता ही वर का सर्वमहान् ऐश्वर्य है। यह ज्ञान के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो, सब वसुओं का सम्पादन करे तथा यज्ञमय जीवनवाला हो।

भावार्थ—गृहस्थ में प्रवेश करनेवाला युवक प्रभु का स्मरण करे। यह प्रभु स्मरण ही उसके जीवन को पवित्र व सशक्त बनता है। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र) बने, ज्ञानी बनकर वासनाओं का विनाश करनेवाला हो (वृत्रहा), गृहस्थ के लिए आवश्यक वसुओं का सम्पादन करे (वासव)

तथा यज्ञमय जीवनवाला (शतक्रतु) बने।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्विना सूर्या

येन॑ सू॒र्यां सा॑वि॒त्रीम॒श्विनो॒हतुः॒ प॒था। तेन॒ माम॑ब्रवी॒द्भगो॑ जा॒यामा व॑हता॒दिति॑॥ २॥

१. **येन पथा**=जिस मार्ग से **अश्विना**=अश्विनी देव—दिन और रात **सावित्रीं सूर्याम्**=सविता सम्बन्धी सूर्य को—ज्योति को **ऊहतुः**=धारण करते हैं, **तेन**=उसी मार्ग से तू **जायाम् आवहतात्**=पत्नी को प्राप्त करनेवाला हो, **इति**=यह बात **माम्**=मुझे **भगः**=उस ऐश्वर्यवान् प्रभु ने **अब्रवीत्**=कही है। २. दिन और रात अत्यन्त नियमित गति में चलते हुए 'सूर्या' को प्राप्त करते हैं। एक वर भी उसी प्रकार नियमित गतिवाला होता हुआ तथा प्राणसाधना को अपनाता हुआ (अश्विना—प्राणापानौ) पत्नी को प्राप्त करे।

भावार्थ—पति को 'अश्विनौ' (दिन-रात) की भाँति नियमित गतिवाला होना चाहिए। इसे प्राणसाधना की प्रवृत्तिवाला होना चाहिए (अश्विना—प्राणापानौ)। पत्नी को 'सूर्या' बनना, क्रियाशील (सरति) व प्रकाशमय जीवनवाला होना चाहिए।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का वरद अंकुश

यस्ते॑ऽङ्कु॒शो व॑सु॒दानो॑ बृ॒हन्नि॑न्द्र हिर॒ण्ययः॑। तेना॑ जनीय॒ते जा॒यां मह्यं॑ धेहि शचीपते॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यः ते अंकुशः**=जो आपका अंकुश—अंकुशवत् आकर्षक हाथ **वसुदानः**=सब वसुओं को देनेवाला है, **बृहन्**=वृद्धि का कारणभूत है, **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय है। प्रभु का हाथ अंकुशवत् है। यह हमें बुराइयों से रोकता है, सब वसुओं को प्राप्त कराता है और हमारा वर्धन करता हुआ हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाता है। २. हे **शचीपते**=सब वाणियों, शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **तेन**=उसी अपने अंकुश से **जनीयते**=सन्तान को जन्म देनेवाली पत्नी की कामनावाले **मह्यम्**=मेरे लिए **जायाम्**=पत्नी को भी **धेहि**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु के पाप-निवारक वरद हस्तों से हमें सब वसु प्राप्त होते हैं। ये हाथ हमारा वर्धन करते हैं, हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं और ये हाथ ही हमें जीवन का साथी (जाया) प्राप्त कराते हैं।

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गण्डमाला की चिकित्सा

अप॑चितः॒ प्र प॑तत सुप॒र्णो व॑स॒तेरि॑व। सूर्यः॑ कृणोतु भेष॒जं च॒न्द्रमा॒ वोऽप॑ उच्छतु॥ १॥

१. दोषवश गले से लेकर नीचे फैलनेवाली गिलटियाँ गण्डमाला व 'अपचित' कहलाती हैं (अपाकचीयमानाः) हे **अपचितः**=गण्डमालाओ! तुम **प्र पतत**=इस शरीर से इसप्रकार निकल जाओ **इव**=जैसेकि **सुपर्णः वसतेः**=शोभनपतन श्येन अपने निवासस्थानभूत घोंसले से उड़ जाता है। २. **सूर्यः**=सूर्य **वः**=तुम्हारा **भेषजं कृणोतु**=चिकित्सा करे और **चन्द्रमाः**=चन्द्र तुम्हें **अप उच्छतु**=दूर विवासित करनेवाला हो।

भावार्थ—एक सद् वैद्य सूर्य व चन्द्र किरणों को सेवन कराके 'गण्डमाला' रोग को हमसे दूर भगा देता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एनी श्येनी कृष्णा रोहिणी

एन्येका॒ श्येन्येका॑ कृ॒ष्णैका॒ रोहि॑णी॒ द्वे। सर्वा॑सामग्रभं॒ नामावी॑रघ्नी॒रप॑ेतन ॥ २ ॥

१. **एका**=एक गण्डमाला **एनी**=ईषत् रक्तमिश्रित श्वेत वर्णवाली है, **एका श्येनी**=एक अत्यन्त शुभ्र वर्णवाली है। **एका कृष्णा**=एक कृष्णवर्णवाली है और **द्वे रोहिणी**=दो लोहित=रक्त वर्णवाली हैं। २. मैं **सर्वासाम्**=इन सब गण्डमालाओं के **नाम**=नमन-(दमन)-साधन-उपाय को **अग्रभम्**=ग्रहण करता हूँ। हे गण्डमालाओ! तुम **अवीरघ्नीः**=हमारी वीर सन्तानों को नष्ट न करती हुई यहाँ से **अपेतन**=दूर चली जाओ।

भावार्थ—हम विविध गण्डमालाओं को दूर करने के साधनों का ग्रहण करते हुए इन्हें अपने जीवनों से दूर करें।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असूतिका रामायणी

अ॒सूति॑का रामाय॒ण्य ऽ प॒चित्र॑ प॑तिष्यति।
ग्लौरि॒तः प्र प॑तिष्यति॒ स ग॑लु॒न्तो न॑शिष्यति ॥ ३ ॥

१. **असूतिका**=पूयस्राव को पैदा न करती हुई—देर से पकनेवाली यह **रामायणी**=(रमते आसु प्राणवायुः इति रामाः नाड्यः, ता अयनं यस्याः) प्राणावायु के रमन स्थानाभूत नाड़ियों में मार्ग-वाली यह **अपचित्**=गण्डमाला **प्रपतिष्यति**=अवश्य चली जाएगी। २. **ग्लौ**=वज्रजनित हर्षक्षय **इतः**=यहाँ से **प्रपतिष्यति**=दूर हो जाएगा और **सः**=वह घाव **गलुन्तः**=परिपक्व होकर गलने से **नशिष्यति**=नष्ट हो जाएगा—इससे सब पूय (पस) निकलकर घाव की समाप्ति हो जाएगी।

भावार्थ—औषध-प्रयोग से यह असूतिका रामायणी 'ग्लौ व गलुन्त' के रूप में होती हुई नष्ट हो जाएगी।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**द्विपदानिचृदार्च्यनुष्टुप्** ॥

प्रेमपूर्वक यज्ञशेष का सेवन

वी॒हि स्वामाहु॑तिं जुषा॒णो मन॑सा॒ स्वाहा॒ मनसा॒ यदि॒दं जु॒होमि॑ ॥ ४ ॥

१. हे रुग्णपुरुष! तू **स्वाम् आहुतिम्**=यज्ञशेष के रूप में ली गई अपनी इस भोज्य द्रव्य की आहुति को **मनसा जुषाणः**=मन से प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **वीहि**=खा। यज्ञशेष का प्रीतिपूर्वक सेवन तुझे नीरोगता प्रदान करेगा। २. **यत् इदं जुहोमि**=यह जो मैं तुझे देता हूँ, उसे तू **मनसा**=मन के साथ—पूरे ध्यान के साथ **स्वाहा**=आहुत करनेवाला बन। तू यज्ञशेष ही खाना। यज्ञ करके बचे हुए को खाना ही अमृतभोजन है।

भावार्थ—प्रीतिपूर्वक यज्ञशेष का सेवन करने से गण्डमाला आदि रोग उत्पन्न ही नहीं होते। उत्पन्न हुए-हुए भी नष्ट हो जाते हैं। एवं, औषध के साथ पथ्य-सेवन आवश्यक है।

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

निर्ऋति, नकि भूमि

यस्या॑स्त आ॒सनि॑ घो॒रे जु॒होम्ये॒षां ब॒द्धाना॑मवसर्ज॑नाय॒ कम्।
भू॒मि॒रिति॑ त्वाभि॒प्रम॑न्वते॒ जना॒ निर्ऋ॑ति॒रिति॑ त्वा॒हं परि वेद स॒र्वतः ॥ १ ॥

१. हे निर्ऋते (दुराचरण)! **यस्याः**=जिस **ते**=तेरे **घोरे आसनि**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=मैं अपने को आहुत कर बैठता हूँ—मेरी सब इन्द्रियाँ विषयों से जकड़ी जाकर मेरे पतन का कारण बनती हैं, **एषाम्**=इन **बद्धानाम्**=विषयों से बद्ध इन्द्रियों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को (जुहोमि) मैं अपना अपर्ण करता हूँ। प्रभु ही मुझे इस निर्ऋति के बन्धन से मुक्त करेंगे। २. हे निर्ऋते! **जनाः**=समान्य लोग **त्वा**=तुझे **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) उत्तम निवास-स्थान के रूप में **अभिप्रमन्वते**=मानते हैं—समझते हैं, परन्तु **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **सर्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिः इति**=दुर्गति के कारणभूत दुराचार के रूप में **परिवेद**=जानता हूँ।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुराचार का शिकार होकर विषयों से बद्ध हो जाती हैं, प्रभु-स्मरण से हम इन्हें विषयों से मुक्त करें। विषयों को आनन्द का स्थान न मानकर हम इन्हें कष्ट (दुर्गति) का मूल जानें।

ऋषिः—**भगः**॥ देवता—**निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीबृहती**॥

हविष्मती 'भूमि'

भूते॑ ह॒विष्म॑ती भवै॒ष ते॑ भा॒गो यो अ॒स्मासु॑। मु॒ञ्चेमान॒मूने॑न॒सः॒ स्वाहा॑॥ २॥

१. 'निर्ऋति' पाप-देवता है, तो 'भूति' ऐश्वर्य की देवता है। हे **भूते**=ऐश्वर्य की देवते! (विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्) तू **हविष्मती भव**=हविवाली हो। हम तुझे प्राप्त करके त्यागपूर्वक अदन-(खाने)-वाले बनें। **एषः**=यह ही **ते भागः**=तेरा सेवनीय व्यवहार है, **यः अस्मासु**=जो हममें हो, अर्थात् हम सदा तेरा त्यागपूर्वक ही अदन करनेवाले हैं। २. हे ऐश्वर्य! तू **इमान् अमून्**=इनको और उनको—श्रमिकों व पूंजीपतियों को **एनसः मुञ्च**=पाप से मुक्त कर। इनमें से कोई भी लोभ से तेरा ग्रहण करनेवाला न हो, सब त्यागपूर्वक ही तेरा अदन करें। इस पापवृत्ति से छूटने के लिए हम **स्वाहा**=आत्मसमर्पण करनेवाले व त्यागशील बनें।

भावार्थ—हमारा ऐश्वर्य त्याग की वृत्ति से युक्त हो। सम्पत्ति का त्यागपूर्वक अदन ही सेवनीय व्यवहार है। त्यागवृत्ति होने पर यह ऐश्वर्य हमें पाप में नहीं फँसाता। त्याग की वृत्ति होने पर 'श्रमिक और पूँजीपति' दोनों का ही व्यवहार ठीक बना रहता है।

ऋषिः—**भगः**॥ देवता—**निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अयस्मय बन्धपाशों का विभेदन

ए॒वो ष्व१॑स्मन्निर्ऋ॑तेऽ॒ नेहा त्वम॑य॒स्मया॒न्वि चृ॑ता॒ बन्ध॑पा॒शान्।
य॒मो म॒ह्यं पु॒नरित्त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑॥ ३॥

१. हे **निर्ऋते**=पापदेवते! **एव उ**=इसप्रकार ही, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार त्यागवृत्ति के होने पर ही **त्वम् अनेहा**=तू हमारे लिए निष्पाप जीवनवाली होती है। तू **अस्मत्**=हमसे **अयस्मयान्**=लोहनिर्मित, अर्थात् अतिदृढ़ **बन्धपाशान्**=बन्धन-जालों को **सुविचृत**=सम्यक् छिन्न कर डाल। २. **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **पुनः इत्**=फिर भी—त्याग के अभाव में **त्वां ददाति**=तुझे दे देता है। जब हम त्यागवृत्ति को छोड़कर भोग-वृत्ति में चलते हैं तब प्रभु हमें फिर निर्ऋति में ले-जाता है। **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता **मृत्यवे**=मृत्यु प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। हम प्रभु-स्मरण करते हुए भोगवृत्ति से बचे रहें।

भावार्थ—त्यागवृत्ति होने पर ऐश्वर्य हमारे लिए निर्ऋति बनकर पापमय जीवन का कारण नहीं बनता। 'यम' का स्मरण हमें पाप से बचाता है।

ऋषिः—**भगः**॥ देवता—**निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

अयस्मयै द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्त्वम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

इस मन्त्र की व्याख्या ६.६३.३ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—आचार्यों व पितरों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर पाप-बन्धन से मुक्त होनेवाला यह व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है—संसार के विषयों से न डाँवाडोल होनेवाला है। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणः=वरुणः

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ १॥

१. **वरणः**=यह वरणवृक्ष **वारयातै**=रोग का निवारण करे। **अयम्**=यह **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला है (दिव् विजिगीषायाम्) **वनस्पतिः**=(वनस् lovliness) शरीर के सौन्दर्य का रक्षक है। **यः यक्ष्मः**=जो रोग **अस्मिन् आविष्टः**=इस पुरुष में प्रवेश कर गया है, **तम् उ**=उसे निश्चय से **देवाः**=ज्ञानी वैद्य **अवीवरन्**=इस वरण (वरना) के प्रयोग से हटाते हैं।

भावार्थ—वरण को आयुर्वेद में '**वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्। निहन्ति गुल्मवातास्त्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः॥' रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्ध आग्नेयो विद्रिध-वातघ्नश्च**' कहा है। यह 'श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, कृमिदोष, रक्तदोष व शिरोवात' को दूर करनेवाला है। यह आग्नेय है। इसके प्रयोग से हम नीरोग शरीरवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण देव'

इन्द्रस्य वर्चसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे॥ २॥

१. **इन्द्रस्य**=रोगरूप सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **वचसा**=वचन से—वेदप्रतिपादित वाणी से **वयम्**=हम **ते यक्ष्मम्**=तेरे रोग को **वारयामहे**=निवारित करते हैं। वरणवृक्ष के समुचित प्रयोग से हम तेरे रोग को दूर करते हैं। २. **मित्रस्य**=उस प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले प्रभु के **च**=तथा **वरुणस्य**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले प्रभु के वचन से हम तेरे रोग को दूर करते हैं। 'इन्द्र' में जितेन्द्रियता का भाव है, 'मित्र' में स्नेह तथा 'वरुण' में निर्द्वेषता का। ये तीनों ही वृत्तियाँ दोष-निवारण के लिए आवश्यक हैं। ३. **सर्वेषां देवानां वाचा**=सब देवों की वाणियों से हम तेरे रोगों को दूर करते हैं। विद्वान् वैद्यों के कथन से वरना का ठीक प्रयोग करते हुए हम नीरोग बनते हैं।

भावार्थ—हम 'जितेन्द्रिय, स्नेहवाले व निर्द्वेष' बनकर रोगों को पराजित करते हैं। विद्वान् वैद्यों के कथन से वरना का ठीक प्रयोग करते हुए हम नीरोग बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यक्ष्म-निवारण

यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः।
ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **वृत्रः**=मेघ **विश्वधा यतीः**=सब ओर बहती हुई **इमाः आपः**=इन जलधाराओं को **तस्तम्भ**=रोके हुए हैं, **एव**=उसी प्रकार **ते यक्ष्मम्**=तेरे राजयोग को **वैश्वानरेण अग्निना**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले जाठराग्नि के द्वारा **वारये**=रोकता हूँ। २. जाठर अग्नि के ठीक होने पर शरीर में रोग नहीं आते। आये हुए रोग भी इस अग्नि के ठीक होने से दूर हो जाते हैं। वरणवृक्ष भी 'आग्नेय' है। इस अग्नि का प्रयोग भी रोग का निवारण करता ही है।

भावार्थ—बादल पानी को रोक लेता है। वरणवृक्ष व वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) रोग को रोकनेवाला हो। वरणवृक्ष का प्रयोग रोग को फैलने नहीं देता।

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एकवृष

वृषेन्द्र॑स्य॒ वृषा॑ दि॒वो वृषा॑ पृथि॒व्या अ॒यम्।
वृषा॒ विश्व॑स्य भू॒तस्य॒ त्वमे॑कवृषो भव॥ १॥

१. **अयम्**=यह प्रभु **इन्द्रस्य**=सूर्य का—सूर्य के अधिष्ठान द्युलोक का **वृषा**=स्वामी है (वृषु ऐश्वर्य), **दिवः**=इस जगमगाते अन्तरिक्षलोक का **वृषा**=स्वामी है तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक का स्वामी है। २. यह प्रभु **सर्वस्य भूतस्य वृषा**=सब प्राणियों का स्वामी है। हे उपासक! तू भी इस 'वृषा' प्रभु का उपासन करता हुआ **एकवृषः भव**=अद्वितीय शक्तिशाली बन। अपनी इन्द्रियों का स्वामी बनता हुआ 'एकवृष' बन।

भावार्थ—प्रभु, 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथ्वीलोक' के स्वामी हैं। वे सब भूतों के स्वामी हैं। इस वृषा का स्मरण करते हुए हम भी 'मस्तिष्क, हृदय व शरीर' के स्वामी बनते हुए 'एकवृष' बनें—अद्वितीय शक्तिशाली स्वामी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'समुद्र, अग्नि व चन्द्र' की भाँति

स॒मु॒द्र ई॑शे स्र॒वता॑मग्निः पृथि॒व्या व॒शी।
च॒न्द्रमा॒ नक्ष॑त्राणामीशे॒ त्वमे॑कवृषो भव॥ २॥

१. **समुद्रः**=समुद्र **स्रवताम्**=बहते हुए जलप्रवाहों का **ईशे**=स्वामी है। यह 'सरितां पतिः' कहलाता है। **अग्निः**=अग्नि **पृथिव्याः वशी**=पृथिवी को वश में करनेवाला है। अग्नि ही पृथिवी का प्रमुख देव है। **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा **नक्षत्राणाम् ईशे**=नक्षत्रों का ईश है। इसका नाम ही 'नक्षेश' है। हे उपासक **त्वम्**=तू भी 'समुद्र, अग्नि व चन्द्र' की भाँति **एकवृषः भव**=अद्वितीय स्वामी बन। समुद्र आदि का स्वामीत्व अव्याहत है, तेरा भी इन्द्रियों पर स्वामित्व अव्याहत हो।

भावार्थ—हम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के इसीप्रकार स्वामी बनें जैसे समुद्र नदियों का, अग्नि पृथिवी का तथा चन्द्र नक्षत्रों का ईश है।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तम पुरुष लक्षण

सम्राड॒स्यसु॑राणां क॒कुन्म॑नु॒ष्या ऽ णाम्। दे॒वाना॑मर्ध॒भाग॑सि॒ त्वमे॑कवृ॒षो भ॑व॥ ३॥

१. हे उत्तम पुरुष! तू **असुराणाम्**=(असु+रम्) प्राणशक्ति-सम्पन्न बलवान् पुरुषों का **सम्राट् असि**=सम्राट् है। **मनुष्यणाम्**=मननशील पुरुषों का **ककुत्**=शिखर—शिरोमणि है। **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले सब मनुष्यों की **अर्धभाग् असि**=(अर्ध-Increase) वृद्धि का सेवन करनेवाला है। इसप्रकार **त्वम्**=तू **एकवृषः भव**=अद्वितीय श्रेष्ठतावाला हो।

भावार्थ—हम शक्तिशालियों के सम्राट्, ज्ञानियों के शिरोमणि व देवों की समृद्धिवाले बनकर—दिव्य गुणोंवाले बनकर अद्वितीय श्रेष्ठता को प्राप्त करें।

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजाप्रिय राजा

आ त्वा॑हार्ष॒मन्त॑र॒भूर्ध्रु॒वस्ति॒ष्ठावि॑चाचलत्।
विश॑स्त्वा॒ सर्वा॑ वाञ्छन्तु॒ मा त्वद्रा॒ष्ट्रम॑धि॒ भ्रश॑त्॥ १॥

१. पुरोहित राज्याभिषेक करता हुआ राजा से कहता है कि हे राजन्! **त्वा आहार्षम्**=तुझे मैं इस सिंहासन पर लाया हूँ, **अन्तः अभूः**=तू सदा राष्ट्र में निवास करनेवाला हो, **अविचाचलत्**=मार्ग से विचलित न होता हुआ तू **ध्रुवः तिष्ठ**=स्थिररूप से सिंहासन पर स्थित हो। २. **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **त्वा वाञ्छन्तु**=तुझे चाहें। तू प्रजाओं का प्रिय हो। **त्वत्**=तुझसे **राष्ट्रम्**=यह राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=कभी भी नष्ट न हो।

भावार्थ—राजा प्रजाओं में ही विचरनेवाला हो। वह इधर-उधर शिकार ही न खेलता रहे। स्थिरवृत्ति का बनकर राज्य करे। प्रजाओं का प्रिय हो। उसे कभी राज्य से पृथक् न होना पड़े।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ध्रुवः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मर्यादित जीवनवाला राजा

इ॒हैवैधि॒ माप॑ च्योष्ठाः॒ पर्व॑त इ॒वावि॑चाचलत्। इन्द्रे॒हैव ध्रु॒वस्ति॑ष्ठे॒ह रा॒ष्ट्रमु॑ धारय॥ २॥

१. **इह एव एधि**=तू सदा इस राज्यसिंहासन पर ही हो। **मा अप च्योष्ठाः**=कभी भी इस राज्य से च्युत मत हो। **पर्वतः इव**=पर्वत की भाँति **अविचाचलत्**=दृढ हो—मार्ग से डाँवाडोल होनेवाला न हो। २. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इह एव**=इस राष्ट्र में ही **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर रह **उ**=और **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **धारय**=धारित कर। राष्ट्र की सब प्रजाओं को अपने-अपने कार्य में धारित कर—**'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्'**। यही तो राष्ट्र-धारण का सर्वोत्तम प्रकार है।

भावार्थ—राजा पर्वत की भाँति कर्त्तव्यमर्यादा में स्थित होता हुआ कभी मार्ग से विचलित न हो। वह जितेन्द्रिय बनकर सब राष्ट्र का धारण करे—**'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सोम ब्रह्मणस्पति' का राजा को उपदेश

इन्द्र॑ ए॒तमदी॑धरद् ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॑ ह॒विषा॑।
तस्मै॒ सोमो॒ अधि॑ ब्रवद॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय राजा **एतम्**=इस राष्ट्रजन को **ध्रुवम् अदीधरत्**=स्थिरता से धारण करनेवाला हो। स्वयं जितेन्द्रिय होता हुआ वह प्रजा को भी ध्रुवता से सन्मार्ग में चलानेवाला हो। यह राजा **ध्रुवेण हविषा**=स्थिर हवि के द्वारा—कर-रूप में प्राप्त होनेवाले धन के द्वारा प्रजा को धारण करे। प्रजा नियम से कर दे और राजा उसका विनियोग राष्ट्रधारण में करे २. **च**=और **तस्मै**=उस राजा के लिए **अयम्**=यह **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य **अधिब्रवत्**=अधिष्ठातृरूपेण उपदेश देनेवाला हो और राजा इसके उपदेश का कभी उल्लंघन न करे।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय हो। स्थिररूप से प्राप्त होनेवाले कर के द्वारा वह राष्ट्र का धारण करे। सौम्य, ज्ञानी आचार्य राजा को राजकार्यों (स्वकर्त्तव्यों) का सदा उपदेश देनेवाला हो।

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ध्रुव राजा

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्॥ १॥

१. जैसे **द्यौः**=द्युलोक **ध्रुवा**=स्थिर है और **पृथिवी ध्रुवा**=पृथिवी स्थिर है। द्यावापृथिवी के अन्दर वर्त्तमान **इदम्**=यह **विश्वं जगत्**=सब संसार **ध्रुवम्**=स्थिर दीखता है और वहाँ के **इमे**=ये **पर्वताः ध्रुवासः**=पर्वत-जैसे ध्रुव हैं, उसी प्रकार **अयम्**=यह **विशाम्**=प्रजाओं का **राजा**=राजा भी **ध्रुवः**=स्थिर हो। राजा कभी भी सन्मार्ग से विचलित होनेवाला न हो।

भावार्थ—प्रजापालक राजा वही होता है जो कर्त्तव्य-मार्ग पर पर्वतों के समान स्थिर होकर रहता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि' द्वारा राष्ट्रधारण

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥ २॥

१. हे राजन्! **ते राष्ट्रम्**=तेरे इस राष्ट्र को **राजा**=तेजस्विता से **दीप्त वरुणः**=पाप से निवारण करनेवाला आरक्षी-(पुलिस)-विभाग का यह अध्यक्ष **ध्रुवम्**=स्थिरता से धारण करे। **देवः**=यह दिव्य गुणोंवाला—देववृत्तिवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञानी—मुख्य सचिव **ध्रुवः**=ध्रुवता से धारण करे। २. **इन्द्रः च**=शत्रुओं का विद्रावक सेनापति **ते राष्ट्रम्**=तेरे राष्ट्र को **ध्रुवम्**=ध्रुवता से धारण करे। **अग्निः च**=और राष्ट्र की उन्नति का विचार करनेवाला अध्यक्ष तेरे राष्ट्र को **ध्रुवं धारयताम्**=ध्रुवता से धारण करे।

भावार्थ—राजा के राष्ट्र को 'वरुण, बृहस्पति, इन्द्र व अग्नि' आदि ध्रुवता से धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निरुपद्रव राष्ट्र में मिलकर चलनेवाली प्रजाएँ

ध्रुवोऽ च्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥ ३॥

१. हे राजन्! **ध्रुवः**=इस राष्ट्र में स्थिर **अच्युतः**=मार्ग से विचलित न होनेवाला होता हुआ **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=नष्ट कर डाल। **शत्रूयतः**=शत्रु की भाँति आचरण करते हुए अन्य जनों को **अधरान् पादयस्व**=नीचे गिरा दे, पददलित कर दे। २. इसप्रकार शत्रुओं के न रहने पर **सर्वाः दिशः**=सब दिशाएँ—इनमें रहनेवाली प्रजाएँ **संमनसः**=उत्तम मनवाली होती हुई **सध्रीचीः**=मिलकर चलनेवाली हों। प्रजाओं का परस्पर विरोध न हो। **इह**=इस राष्ट्र में **ध्रुवायते**=कर्त्तव्य-पथ में स्थित तेरे लिए **समितिः कल्पताम्**=राष्ट्रसभा समर्थ हो, सामर्थ्य की जनक हो। यह सभा तुझे ध्रुवता से शासन करने में समर्थ करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को शत्रुभय से रहित करे। इस निरुपद्रव राष्ट्र में सब प्रजाएँ प्रेम से मिलकर चलें। राष्ट्रसभा राजा को शासनकार्य में शक्तिसम्पन्न करे।

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमेन दत्तम्

इदं यत्प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

१. हे पुरुष! **इदम्**=यह **यत्**=जो **प्रेण्यः**=प्रीणित करनेवाली पत्नी का **शिरः**=सिर **सोमेन**=सकल जगदुत्पादक प्रभु ने **दत्तम्**=तेरे हाथ में दिया है, यह **वृष्ण्यम्**=तुझमें शक्ति का सेचन करनेवाला हो। इस पत्नी के गौरव को बचाना तू अपना धर्म समझे और यह भाव तुझे शक्तिशाली बनाए। २. **ततः**=उस तेरे हाथ में दिये गये सिर से **परिप्रजातेन**=उत्पन्न हुए-हुए स्नेहविशेष से **ते**=तेरे **हार्दिम्**=हृन्मध्यवर्ती अन्तःकरण को **शोचयामसि**=दीप्त करते हैं। तुझे पत्नी के प्रति प्रेम हो, उसके यश को रक्षित करना तू अपना कर्त्तव्य समझे और यह कर्त्तव्यपालन की भावना तेरे अन्तःकरण को उज्ज्वल करनेवाली हो—उत्साहयुक्त करनेवाली हो।

भावार्थ—एक पति यह समझे कि प्रभु ने इस पत्नी को मुझे प्राप्त कराया है, इसकी कीर्ति का रक्षण मेरा कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य-भावना उसके हृदय को उत्साहित करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर अनुकूलता

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूमइव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

१. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **ते हार्दिम्**=तेरे हृन्मध्यवर्ति अन्तःकरण को **शोचयामसि**=अनुराग के उत्पादन से दीप्त करते हैं। **ते मनः**=तेरी संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्तिविशेष को भी **शोचयामसि**=उज्ज्वल करते हैं। पति-पत्नी का हृदय एक-दूसरे के प्रति अनुरागवाला हो, उनका मन एक-दूसरे के प्रति उत्तम संकल्पोंवाला हो। २. **इव**=जैसे **धूमः**=धुँआ **वातम्**=वायु के साथ गतिवाला होता है, इसीप्रकार **ते मनः**=तेरा मन **माम् एव सध्र्यङ्**=मेरे साथ ही गतिवाला होकर **अनु एतु**=अनुकूलता से प्राप्त हो। पति के अनुकूल पत्नी का मन हो, पति का मन पत्नी के अनुकूल हो।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने व्यवहार से एक-दूसरे के हृदय व मन को दीप्त करनेवाले हों। इनके मन परस्पर अनुकूलता से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मित्रावरुणौ सरस्वती

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्याताम्॥ ३॥

१. हे पत्नि! **मह्यम्**=मेरे लिए **त्वाम्**=तुझे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **समस्यताम्**=संयुक्त करें। **मह्यम्**=मेरे लिए **देवी**=यह द्योतमाना **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता तुझे संयुक्त करें। स्नेह की भावना (मित्र), निर्द्वेषता (वरुण) व ज्ञानरुचिता (सरस्वती) हमें एक-दूसरे के समीप लानेवाले हों। २. **भूम्याः मध्यम्**=भूमि का मध्य तथा **उभौ अन्तौ**=दोनों सिरे **त्वा**=तुझे **मह्यम्**=मेरे लिए संयुक्त करें। यह सारा संसार तुझे मेरे लिए संयुक्त करनेवाला हो।

भावार्थ—स्नेह, निर्द्वेषता व ज्ञानप्रवणता को अपनाते हुए पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति प्रेमवाले हों। सारा संसार उन्हें परस्पर अनुकूलता से संयुक्त करे।

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इषु निष्कासन

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।
इदं तामद्य त्वद्वयं विषूचीं वि वृहामसि॥ १॥

१. **रुद्रः**=(रोदयति) प्रबल आक्रमण के द्वारा रुलानेवाले शत्रु-सेनानी ने **याम् इषुम्**=जिस बाण को **ते**=तेरे **अंगेभ्यः**=अङ्गों के लिए—अंगों की पीड़ा के लिए **हृदयाय च**=और हृदय की पीड़ा के लिए **आस्यत्**=फेंका है, **अद्य**=आज **इदम्**=उसके प्रतीकार के लिए **वयम्**=हम **ताम्**=उस इषु को **त्वत् विषूचीम्**=तुझसे विरुद्ध दिशा में—तुझसे दूर **विवृहामसि**=उत्क्षिप्त करते हैं।

भावार्थ—युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों से घायल शरीर को स्वस्थ करने के लिए शरीर में रह गये बाण आदि को निकाल फेंकने की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषप्रभाव दूरीकरण

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि॥ २॥

१. हे शूलरोगिन्! **ते अंगानि अनु**=तेरे हाथ-पैर आदि अङ्गों में **याः शतं धमनयः**=जो सैकड़ों नाड़ियाँ **विष्ठिताः**=विविधरूप में अवस्थित हैं **ते**=तेरी **तासां सर्वासाम्**=उन सब नाड़ियों की **निर्विषाणि**=पीड़ा को दूर करनेवाले—विष को बाहर कर देनेवाले औषधों को **वयं ह्वयामसि**=हम सम्पादित करते हैं। विष दूर होते ही दर्द तो दूर हो ही जाएगा।

भावार्थ—धमनियों में विषप्रभाव हो जाने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पीड़ा आरम्भ हो जाती है। विष को दूर करनेवाले औषध से हम उस पीड़ा को दूर करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**आर्षीभुरिगुष्णिक्**॥

अस्यते प्रतिहितायै, विसृज्यमानायै निपतितायै

नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै। नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै॥ ३॥

१. **रुद्र**=हे शरवेध द्वारा रुलानेवाले! **अस्यते ते**=फेंकते हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। हम तुझे दूर से ही छोड़नेवाले बनें, जिससे हमपर बाण न गिरे। **प्रतिहितायै**=धनुष् पर जोड़े हुए—चढ़ाये हुए तेरे इषु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **विसृज्यमानायै**=धनुष् से प्रेरित किये जाते हुए इस इषु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **निपतितायै**=विसर्जन के पश्चात् लक्ष्य पर गिरे हुए इस बाण के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—सबसे प्रथम तो हम रोग के कारणों को ही दूर करें (अस्यते), जब रोग उत्पन्न होने को हों तभी उन्हें रोकें (प्रतिहितायै), उत्पन्न हो रहे रोगों को रोकें (विसृज्यमानायै) और यह आ जाए तो भी इसके दूरी-करण के लिए पूर्ण प्रयत्न करें (निपतितायै)।

विशेष—सब प्रकार के रोगों को तपस्या की अग्नि में दग्ध करके यह 'भृगु' बनता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला, यह 'अङ्गिरा' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अष्टायोगैः षड्योगैः

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः। तेना ते तन्वो रपोऽप पाचीनमप व्यये॥ १॥

१. **इयं यवम्**=इस जौ को **अष्टायोगैः**=आठ जोड़ीवाले बैलों से अथवा **षड्योगेभिः**=छह जोड़ीवाले बैलों से की जानेवाली कृषि से **अचर्कृषुः**=उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार की कृषि में बैलों को कम कष्ट होता है। वे प्रसन्नता से कर्षण में सहायक होंगे तो उत्पन्न होनेवाला यव भी अधिक गुणकारी होगा। २. **तेन**=उस यव (जौ) से **ते तन्वः रपः**=तेरे शरीर के रोगबीज को **अपाचीनम् अप व्यये**=निम्न गति से दूर करते हैं। यव मलशोधन करता हुआ रोग को दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—जिस भूमि में बैलों को पीड़ित न करते हुए अन्न उत्पन्न किया जाता है वह जौ मलों का शोधन करता हुआ रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न्यग् भवतु ते रपः

न्यग्वातो वाति न्यक्तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः॥ २॥

१. **वातः**=वायु **न्यक् वाति**=निम्न गति से चलता है, **सूर्यः न्यक् तपति**=सूर्य अवाङ्मुख (नीचे) तपता है, **अघ्न्या**=अहन्तव्य गौ **नीचीनं दुहे**=दूध का अधोमुख दूहन करती है। २. जैसे ये वायु, सूर्य व अघ्न्या न्यक्त्व धर्म से तपते हैं, उसी प्रकार हे व्याधित! **ते रपः**=तेरा यह शरीर-दोष **न्यक् भवतु**=अधोमुख हो, अर्थात् शान्त हो जाए।

भावार्थ—जैसे वायु, सूर्य व असील गौ का कार्य निम्न गति से होता है, इसीप्रकार तेरा यह शरीर-दोष भी निम्न गतिवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**आपः**॥

रोगों से बचानेवाले 'जल'

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ३॥

१. **आपः**=जल **इत् वा उ**=निश्चय से **भेषजीः**=औषध हैं। **आपः**=जल **अमीवचातनीः**=रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। **आपः**=जल **विश्वस्य भेषजीः**=सब रोगों की औषध हैं। **ताः**=वे **ते**=तेरे लिए **भेषजं कृण्वन्तु**=औषध को करें।

भावार्थ—जलों का समुचित प्रयोग सब रोगों का विनाशक है। ये निश्चय से रोगों को दूर करते हैं। 'जल' का अर्थ ही 'आवृत्त' करनेवाला—रोगों से बचानेवाला है।

विशेष—सब रोगों से बचकर यह 'वाजी' शक्तिशाली बनता है और संसार के विषयों में न उलझता हुआ 'अथर्वा' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वातरंहाः

वातरंहा भव वाजिन्युज्यमा॑न इन्द्र॑स्य याहि प्रस॒वे मनो॑जवाः।
युञ्ज॑न्तु त्वा म॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दस॒ आ ते॒ त्वष्टा॑ प॒त्सु ज॒वं द॑धातु॥ १॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **युज्यमानः**=चित्तवृत्ति को एकाग्र करता हुआ तू **वातरंहा भव**=वायु के समान वेगवाला हो—स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला हो। **मनोजवाः**=मन के वेगवाला—प्रबल मानसिक शक्तिवाला तू **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में **याहि**=गति कर। २. **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—ज्ञानी पुरुष **त्वा युञ्जन्तु**=प्रेरणा देते हुए तुझे कर्त्तव्यों में नियुक्त करें। **त्वष्टा**=निर्माता प्रभु **ते पत्सु**=तेरे पैरों में **जवं दधातु**=वेग धारण करें—तुझे शक्ति दें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके, ज्ञानियों से मार्गदर्शन कराया जाकर तू दृढ़ मानस शक्तिवाला होकर, कार्यों में स्फूर्ति से व्याप्त होनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संग्राम-विजय

ज॒वस्ते॑ अर्व॒न्निहि॑तो॒ गुहा॒ यः श्ये॒ने वा॑त॑ उ॒त यो॑ऽ च॑र॒त्परी॑त्तः।
तेन॒ त्वं वा॑जि॒न्बल॑वा॒न्बले॑नाजिं जय॒ सम॑ने पारयि॒ष्णुः॥ २॥

१. हे **अर्वन्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले साधक! **यः जवः**=जो वेग **ते गुहा निहितः**=तेरे हृदयदेश में स्थापित किया गया है, **उत**=और **यः**=जो **परीत्तः**=(परिदानं रक्षणार्थं दानम्) रक्षा के लिए दिया गया (जवः) वेग **श्येने**=बाज में और **वाते**=वायु में **अचरत्**=गति करता है, **तेन**=उस वेग से हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **त्वम्**=तू **बलवान्**=बलवाला होता हुआ **बलेन**=बल से **अजिं जय**=संग्राम को जीतनेवाला हो, **समने पारयिष्णुः**=तू संग्राम में पारप्रापणशील है।

भावार्थ—हम श्येनपक्षी के समान वेगवाले हों, वायुसम हमारा वेग हो। हृदयदेश में इस स्फूर्ति को धारण करते हुए हम बलवान् बनें और संसार-संग्राम में विजयी हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिवि ज्योतिः, स्वं महः

त॒नूष्टे वा॑जि॒न्त॒न्वं॑१ नय॑न्ती वाम॒मस्मभ्यं॑ धाव॑तु शर्म॒ तुभ्य॑म्।
अहु॑तो म॒हो ध॒रुणा॑य दे॒वो दि॒वी ऽ व॒ ज्योति॒ः स्वमा मि॑मीयात्॥ ३॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली साधक! **ते तनूः**=तेरा यह शरीर **तन्वं नयन्ती**=शक्तिविस्तार को (तन् विस्तारे) प्राप्त कराता हुआ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामं धावतु**=जो भी सुन्दर—शुभ है, उसे प्राप्त कराए। लोक-कल्याण का यह कार्य अन्ततः **तुभ्यं शर्म**=तुझे सुख देनेवाला हो। २. वह **अह्रुता**=कुटिलताओं से रहित **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **धरुणाय**=हमारे धारण के लिए **दिवि ज्योतिः इव**=मस्तिष्क में प्रकाश के समान **स्वं महः**=आत्मिक तेज को **आमिमीयात्**=हममें निर्मित करे।

भावार्थ—एक साधक अपनी साधना करके लोक-कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त हो। वह लोगों को शक्ति-विस्तार के मार्ग का उपदेश करे। प्रकाशमय प्रभु हमें ज्ञान व आत्मिक तेज प्राप्त कराएँ।

विशेष—ज्ञान व आत्मिक तेज प्राप्त करके शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले सूक्त का ऋषि है।

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हम यम तथा देवजनों के कोपभाजन न हों

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान्॥ १॥

१. **यमः**=पापियों का नियमन करनेवाला, **मृत्युः**=(मारयति) प्राणों को छुड़ानेवाला, **अघमारः**=(अपथेन मारयति) पाप के कारण मारनेवाला, **निर्ऋथः**=(निःशेषेण ऋच्छति पीडयति) पापियों को अत्यन्त पीड़ित करनेवाला, **बभ्रुः**=भरणशील, **शर्वः**=सब अशुभों को शीर्ण करनेवाला, **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला, **नीलशिखण्डः**=सर्वोत्तम निधि-(नील=निधि, शिखण्ड crest)-रूप प्रभु तथा **सेनया उत्तस्थिवांसः**=सेना के साथ उठे हुए **देवजनाः**=शत्रु-सैन्यों को पराजित करने की कामनावाले **ते**=वे सब लोग **अस्माकं वीरान्**=हमारे वीरों को **परिवृजन्तु**=परिहृत करें—बाधित न करें।

भावार्थ—हमारे वीरों को प्रभु का दण्ड न भोगना पड़े। सेना के साथ आक्रमण करनेवाले विजिगीषु जन हमारे वीरों पर आक्रमण करने की न सोचें। पापवृत्ति से बचते हुए हम प्रभु के कोपभाजन न हों और वीर बनकर शत्रुओं से आक्रान्त न हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शर्वाय, अस्त्र, राज्ञे, भवाय

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय।
नमस्ये ∫ भ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मद्घविषा नयन्तु॥ २॥

१. **मनसा**=मानस संकल्प से **होमैः**=यज्ञों से **हरसा**=तेजस्विता के सम्पादन से **घृतेन**=(घृ दीप्ति) ज्ञान-दीप्ति से क्रमशः **शर्वाय**=काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले, **अस्त्रे**=रोगों को परे फेंकनेवाले **उत**=और **राज्ञे**=तेजस्विता से दीप्त **भवाय**=सर्वमहान् ऐश्वर्यशाली प्रभु के लिए तथा **नमस्येभ्यः एभ्यः**=नमस्कार के योग्य इन देवजनों के लिए **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ। २. ये सब **अस्मत्**=हमारे लिए प्रीणित होकर **अघविषाः**=पापरूप विषवाली क्रियाओं को **अन्यत्र**=दूसरे स्थान पर—दूर **नयन्तु**=ले-जाएँ। उस प्रभु का हम 'शर्व, अस्ता, राजा व भव' के रूप में स्मरण करते हुए पापों से बचें।

भावार्थ—हम दृढ़ मानस संकल्प द्वारा काम-क्रोध आदि का संहार करें, यज्ञों द्वारा रोगों को दूर करें, तेजस्विता से अपने जीवन को दीप्त बनाएँ तथा ज्ञानदीप्ति द्वारा सर्वोत्तम ऐश्वर्यसम्पन्न बनें। देवजनों का आदर करते हुए पापरूप विषवाली क्रियाओं को अपने जीवन से दूर रक्खें।

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्नि, सोम, वरुण, मित्र, वात, पर्जन्य

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद्विश्वेदेवा मरुतो विश्ववेदसः।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम॥ ३॥

१. **विश्वेदेवाः**=सब देववृत्तिवाले, **मरुतः**=मितरावी—परिमित बोलनेवाले, **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले पुरुषो! **नः**=हमें **अघविषाभ्यः**=पापरूप विष से युक्त क्रियाओं से होनवाले **बधात्**=बध से **त्राध्वम्**=रक्षित करो। हम आपके शिक्षण-दीक्षण के द्वारा पापों से दूर रहें। २. **अग्निषोमा**=अग्नि व सोम—तेजस्विता व शान्ति तथा **वरुणः पूतदक्षाः**=(मित्रं हुवे पूतदक्षम्०) वरुण तथा मित्र—निर्द्वेषता व स्नेह के भाव हमें पाप से बचाएँ। हम 'तेजस्वी, शान्त, निर्द्वेष व स्नेही' बनकर पाप से दूर हों। वायु की भाँति हम सबके लिए प्राण (जीवन) देनेवाले हों, पर्जन्य की भाँति हम शान्ति का वर्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—देववृत्ति के मितरावी, ज्ञानी पुरुष हमें पापों से बचाएँ। हम 'तेजस्वी, शान्त, निर्दोष व स्नेही' बनें। वायु की भाँति हमारी क्रियाएँ सबके लिए प्राणप्रद हों, पर्जन्य की भाँति हम शान्ति का वर्षण करनेवाले हों।

विशेष—यह 'तेजस्वी, शान्त, निर्द्वेष व स्नेही' व्यक्ति 'अथर्वाङ्गिरस्' बनता है—न डाँवाडोल व रसमय अङ्गोंवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**१ अनुष्टुप्, २ विराड्जगती**॥

सांमनस्य

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥ १॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥ २॥

व्याख्या द्रष्टव्य ३.८.५-६।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समृद्ध जीवन

ओतो मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक और शरीररूप पृथिवीलोक **मे**=मेरे जीवन के लिए **आ उते**=आभिमुख्येन सम्बद्ध हैं। मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त है तो शरीर पृथिवी के समान दृढ़ है। **देवी**=प्रकाशमयी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **ओता**=मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं। इसीप्रकार **इन्द्रः च अग्निः च**=बल की देवता इन्द्र और प्रकाश की देवता अग्नि **मे ओतौ**=मेरे जीवन में परस्पर सम्बद्ध हैं। अथवा 'इन्द्र', अर्थात् जितेन्द्रियता और 'अग्नि',

अर्थात् निरन्तर आगे बढ़ने की भावना—ये मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं। २. **हे सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवते! इन सबके अनुग्रह से **इदम्**=इस जीवन को **ऋध्यास्म**=हम समृद्ध कर पाएँ।

भावार्थ—हमारे जीवन में मस्तिष्क व शरीर दोनों की समानरूप से उन्नति हो। हम सरस्वती के उपासक हों—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम जीवन को समृद्ध बनाएँ।

विशेष—अगले दो सूक्तों का ऋषि भृग्वङ्गिरा है—ज्ञान की अग्नि में अपना परिपाक करनेवाला व गतिशील, सरस अङ्गोंवाला।

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**वनस्पतिः (कुष्ठः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कुष्ठ

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ १॥
हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ २॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत। गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि॥ ३॥

व्याख्या द्रष्टव्य—५.४.३-४।

१. हे अग्ने=परमात्मन्! आप **ओषधीनाम्**=(ओषः धीयते आसु) परिपाक जिनमें धारण किया जाता है, उन सब ओषधियों के **गर्भः असि**=गर्भ हो—गर्भ की भाँति उनमें अवस्थित हो। **उत**=और **हिमवताम्**=शीत स्पर्शवाली अन्य वनस्पतियों को भी **गर्भः**=गर्भ के समान धारण करनेवाले हो। २. आप वस्तुतः **विश्वस्य**=सारे **भूतस्य**=प्राणिसमूह के व ब्राह्माण्ड के अन्दर **गर्भः**=गर्भवत् अवस्थित हो। ऐसे आप **मे**=मेरे **इमम्**=इस व्यक्ति को **अगदं कृधि**=नीरोग कीजिए। आप इसके अन्दर भी उसी प्रकार अवस्थित हुए इसे नीरोग करनेवाले होओ।

भावार्थ—प्रभु आग्नेय व सौम्य पदार्थों में गर्भवत् स्थित हैं। हमारे अन्दर भी स्थित होते हुए प्रभु हमें नीरोग करें।

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सोमराज्ञी', ओषधयः

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १

१. **याः**=जो **सोमराज्ञीः**=सोम ओषधि जिनकी मुखिया है, ऐसी **बह्वीः**=बहुत-सी **शतविचक्षणाः**=शतवर्षपर्यन्त हमारा ध्यान करनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ हैं, ऐसी **ताः**=वे ओषधियाँ **बृहस्पतिप्रसूताः**=उस सर्वज्ञ प्रभु से पैदा की गई तथा ज्ञानी वैद्य से प्रयुक्त हुई-हुई **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=कष्टों से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ने संसार में विविध ओषधियों को जन्म दिया है। सोमलता इनमें प्रमुख है। इन ओषधियों का ठीक प्रयोग हमें सब कष्टों से मुक्त करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शपथ्य व वरुण्य रोगों से मुक्ति

मुञ्चन्तु मा शपथ्या ३दथो वरुण्या ⌠ दुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवाकिल्बिषात्॥ २॥

१. ये ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात् मुञ्चन्तु**=दुर्वचनजनित रोगों से मुक्त करें। सौम्य ओषधियाँ मन के उद्वेग आदि को दूर करके हमें कटुवचन बोलने से रोकती हैं। राजस् भोजन स्वभावतः कुछ उग्रता का कारण बनते हैं। **अथो**=अब **वरुणयात् उत**=जल के कारण हो जानेवाले रोगों से भी बचाएँ। दूषित जल से कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। २. **अथो**=और **यमस्य पड्वीशात्**=मृत्यु के पाशरूप असाध्य रोगों से भी ये हमें बचाएँ। **विश्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रिय-सम्बन्धी दोषों (रोगों) से भी ये हमें बचानेवाली हों।

भावार्थ—ओषधियाँ हमें दुर्वचन-जनित रोगों से, जल-सम्बन्धी रोगों से, असाध्यकल्प रोगों से तथा सब इन्द्रिय-दोषों से मुक्त करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥

चक्षुषा, मनसा, वाचा

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु॥ ३॥

१. हम **यत्**=जो **चक्षुषा**=आँख से **यत् च**=और जो **मनसा**=मन से **यत् च**=तथा जो **वाचा**=वाणी से **उपारिम**=पाप कर बैठते हैं। **यत्**=जिस पाप को हम **जाग्रतः**=जागते हुए या **स्वपन्तः**=सोते हुए कर बैठते हैं, **सोमः**=सोम **नः**=हमारे **तानि**=उन सब पापों को **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **पुनातु**=शुद्ध कर डाले।

भावार्थ—सौम्य ओषधियों का प्रयोग हमें आँख, वाणी व मन से हो जानेवाले सब दोषों से मुक्त करता है। जागते-सोते कोई भी दोष इस ओषधि के प्रयोग से हमें पीड़ित नहीं कर पाता। इन ओषधियों के प्रयोग से हम मन में किसी का बुरा नहीं सोचते, किसी को दोषयुक्त दृष्टि से नहीं देखते तथा किसी के प्रति क्रोध-भरे वचन नहीं बोलते।

विशेष—आँख, वाणी व मन के दोषों से मुक्त होकर हम 'मित्रावरुणौ' के उपासक बनते हैं। सबके प्रति स्नेहवाले व प्राणिमात्र के प्रति निर्द्वेषतावाले हम 'अथर्वा' बनते हैं—राग-द्वेष से दोलायमान न होनेवाले। अगले तीन सूक्तों का ऋषि यह 'अथर्वा' ही है।

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञ व विजय

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः॥ १॥

१. विजय की कामनावाले हम लोगों से क्रियामण यह **यज्ञः**=यज्ञ **अभिभूः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाला है। याग का निष्पादक यह **अग्निः**=अग्नि **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करता है। यज्ञ का साधनभूत **सोमः**=यह सोम भी **अभिभूः**=शत्रुओं का अभिभविता है। इस सोम से तर्पित **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष भी **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करता है। यज्ञ से पवित्रता की भावना का विकास होता है, यज्ञाग्नि हमें भी अग्नि-(उत्साह)-वाला बनाती है। यह यज्ञ हमें भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाला बनाता है। रक्षित सोम इस जितेन्द्रिय पुरुष को सदा विजयी बनाता है। २. **अहम्**=मैं **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को **यथा**=जिस प्रकार **अभ्यसानि**=अभिभूत करनेवाला बनूँ। **एव**=इसप्रकार **अग्निहोत्राः**=अग्निहोत्र करनेवाले हम **इदं हविः**=इस हवि को **विधेम**=समर्पित करनेवाले बनें। यज्ञशील

बनकर ही तो हम विजयी बनेंगे।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष का जीवन उत्साह-सम्पन्न होता है। पवित्र जीवनवाला होने से यह सोम का रक्षण करता है। सोमपान करनेवाला यह इन्द्र कभी पराजित नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

मित्रावरुणा

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत्क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ २॥

१. हे **विपश्चिता**=ज्ञान से युक्त **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके अनुग्रह से हममें **स्वधा अस्तु**=आत्मधारण-शक्ति हो। **प्रजावत् क्षत्रम्**=उत्तम सन्तानोंवाले बल को **इह**=यहाँ—हमारे जीवनों में **मधुना**=माधुर्य से **पिन्वतम्**=सींचो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवनों को आत्मधारण की शक्तिवाला, उत्तम सन्तानवाला, बलसम्पन्न व माधुर्ययुक्त बनाते हैं। २. हे मित्रावरुणा! आप **निर्ऋतिम्**=दुराचार को—पराजयकारिणी पापदेवता को **पराचैः दूरं बाधेथाम्**=पराङ्मुख करके सुदूर नष्ट कीजिए। **कृतं चित्**=शत्रुओं से किये गये भी **एनः**=पराजय निमित्त पाप को **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर 'आत्मधारणशक्तिवाले, उत्तम सन्तानोंवाले, बलसम्पन्न व मधुरभाषी बनें और दुराचार से दूर' रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ग्रामजितं गोजितम्

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्मं प्रमृणन्तमोजसा॥ ३॥

१. **इमम्**=इस **वीरम्**=वीर्यवान् राजा को **अनुहर्षध्वम्**=अनुसृत करते हुए हे सैनिको! वीररस से हृष्ट होओ। **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्ययुक्त इस राजा को **सखाय**=हे समान ज्ञानवाले सैनिको! **अनुसंरभध्वम्**=अनुसृत करके यद्धोद्युक्त होओ। २. इस राजा का अनुसरण करो जोकि **ग्रामजितम्**=ग्रामों का विजय करनेवाला है, **गोजितम्**=गौओं का जय करनेवाला है, **वज्रबाहुम्**=उद्यत आयुधवाला है और इसी लिए **जयन्तम्**=शत्रुओं को पराजित करता है, **अज्म**=क्षेपणशील शत्रुबल को **ओजसा**=बल से **प्रमृणन्तम्**=प्रकर्षेण हिंसित कर रहा है।

भावार्थ—वीर राजा के अनुकूल सैनिक भी हर्ष का अनुभव करते हैं और शत्रुओं को पराजित करनेवाले होते हैं।

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'चर्कृत्य, ईड्य, उपसद्य, नमस्य' राजा

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो ∫ भवेह॥ १॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं को विद्रावण करनेवाला जितेन्द्रिय राजा **जयाति**=विजयी होता है, **न पराजयाता**=कभी पराजित नहीं होता। **राजसु अधिराजः**=सब राजाओं में मुख्य होता हुआ यह **राजयातै**=दीप्त होता है। २. वह तू **चर्कृत्यः**=शत्रुओं का अतिशयेन छेदन करनेवाला, **ईड्यः**=स्तुत्य,

वन्द्यः=वन्दनीय **च**=और **उपसद्यः**=सबसे सेवनीय, समीप जाने योग्य व **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य **इह**=यहाँ **भव**=हो।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय होता हुआ शत्रुओं को जीतनेवाला हो। यह शत्रुछेदन करता हुआ आदरणीय होता है। प्रजाओं के लिए यह उपसद्य व नमस्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भास्तारपङ्क्तिः**॥

'श्रवस्युः अभिभूः' राजा

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्।
त्वं दैवीर्विशं इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु॥ २॥

१. **इन्द्र**=हे शत्रुविद्रावक राजन्! **त्वम्**=तू **अधिराजः**=अन्य राजाओं से श्रेष्ठ हो, **श्रवस्युः**=कीर्तिमान् हो। **त्वम्**=तू **जनानाम्**=लोगों का **अभिभूतिः भूः**=वशीभूत करनेवाला हो। २. **त्वम्**=तू **इमाः**=इन **दैवीः विशः**=दिव्य गुणवाली प्रजाओं पर **विराजः**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाला हो। **ते क्षत्रम्**=तेरा बल **आयुष्मत्**=दीर्घजीवनवाला व **अजरम्**=जरारहित—अजीर्ण **अस्तु**=हो।

भावार्थ—राजा अपने शासन के कारण दीप्तिवाला हो। प्रजाओं पर शासन करता हुआ यह अजर, आयुष्मत् व बलवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शत्रुहः' राजा

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहो ऽसि।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक राजन्! **त्वम्**=तू **प्राच्याः दिशः राजा असि**=पूर्व-दक्षिण दिशा में होनेवाले देश का राजा है **उत**=और **उदीच्याः दिशः राजा**=पश्चिमोत्तर दिशा में होनेवाले देश का भी राजा है। '**देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः**'। हे **वृत्रहन्**=शत्रुओं का हनन करनेवाले राजन्! तू **शत्रुहः असि**=राष्ट्र के शातन करनेवालों का नाशक है। २. **यत्र**=जहाँ **स्रोत्याः यन्ति**=जलप्रवाहोंवाली नदियाँ बहती हैं, **तत् ते जितम्**=उस प्रदेश को तूने जीत लिया है। सम्पूर्णभाग को तूने जीता है। ऐसा विजेता तू **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला होता हुआ **हव्यः**=हमसे पुकारने योग्य होता है। हमसे पुकारे जानेवाला तू **दक्षिणतः एषि**=दक्षिणभाग में गतिवाला होता है, अर्थात् हमारे द्वारा आदरणीय होता है।

भावार्थ—शत्रुओं को नष्ट करनेवाला राजा राष्ट्र की चारों दिशाओं से रक्षा करता है और प्रजा से आदरणीय होता है।

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुरा अंहूरणात्

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे। ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक राजन्! **वरिमतः**=तेरी शक्तियों के विस्तार के कारण **त्वा अभि हुवे**=मैं तुझे पुकारता हूँ। **अंहूरणात् पुरा त्वा (हुवे)**=पराजय का कारण होनेवाले कुटिलगमन से पूर्व ही मैं तुझे पुकारता हूँ। २. **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले **चेत्तारम्**=विजय के उपायों को

समझनेवाले, **पुरुणामानम्**=अनेक शत्रुओं को झुका देनेवाले, **एकजम्**=युद्धों में अकेले ही चमकनेवाले तुझे **ह्वयामि**=मैं पुकारता हूँ।

भावार्थ—राजा शत्रुओं के आक्रमण से होनेवाली दुर्गति से पूर्व ही राष्ट्र-रक्षा की व्यवस्था करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राकारतुल्य राजा की भुजाएँ

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन्न उदीरते। इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः॥ २॥

१. **यः**=जो **अद्य**=आज **सेन्यः**=शत्रु-सेना का **वधः**=वध-साधन शस्त्र **नः**=हमें **जिघांसन्**=मारना चाहता हुआ **उदीरते**=उद्गत होता है तो **तत्र**=वहाँ—वध होने के समय **इन्द्रस्य**=शत्रु-विद्रावक राजा की **बाहू**=भुजाओं को अपनी रक्षा के लिए **समन्तम्**=सब ओर से **परिदद्मः**=प्राकार की भाँति धारण करते हैं।

भावार्थ—शत्रु के आक्रमण की आशंका होते ही राजा की सैन्यरूप भुजाएँ हमारे रक्षण के लिए चारों ओर उपस्थित हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः, सोमः सविता च**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥

देव सवितः सोम राजन्

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये॥ ३॥

१. **त्रातुः**=रक्षा करनेवाले **इन्द्रस्य**=शत्रु-विद्रावक राजा की **बाहू**=भुजाओं को **समन्तम्**=चारों और **परिदद्मः**=प्राकारभूत धारण करते हैं। इसप्रकार वह इन्द्र **नः**=हमें **त्रायताम्**=रक्षित करे। २. हे **देव**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले! **सवितः**=सबको राष्ट्र-रक्षा की प्रेरणा देनेवाले; **सोम**=सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त अथवा शक्तिसम्पन्न (सोम के पुञ्ज) **राजन्**=दीप्त होनेवाले राजन्! **स्वस्तये**=क्षेम (अविनाश) के लिए **मा**=मुझे **सुमनसम्**=उत्साहयुक्त मनवाला **कृणु**=कीजिए। शत्रु का आक्रमण होने पर भी हम मन में उत्साह को न खो बैठें, हम स्वस्थ व उत्साहयुक्त चित्त से संग्राम करनेवाले हों।

भावार्थ—राजा शत्रुओं को जीतने की कामनावाला, सबको उत्साह की प्रेरणा देनेवाला, शक्तिसम्पन्न व दीप्त तेजवाला हो। वह सारी प्रजाओं में उत्साह का सञ्चार करे।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'गरुत्मान्' है—विशाल बोझ को धारण करनेवाला। राजा के सिर पर सारे राष्ट्र का बोझ होता ही है, यह शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करता हुआ आन्तरिक विष को भी दूर करता है।

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषदूषणम्

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात्पृथिव्य ∫ दात्।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम्॥ १॥

१. **देवाः**=सब देव—ज्ञानी पुरुष **सचित्ताः**=समान मनवाले होते हुए **विषदूषणम् अदुः**=विषनाशक औषध देते हैं। **सूर्यः**=सबका प्रेरक आदित्य भी विषदूषण औषध **अदात्**=देता

है। **द्यौः**=यह प्रकाशमय अन्तरिक्षलोक भी उस औषध को **अदात्**=दे। **पृथिवी अदात्**=यह भूमि देवता भी वह औषध दे। २. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वतीः**='इडा, भारती, सरस्वती' नामक देवताएँ इस विषनाशक औषध को **अदुः**=देती हैं।

भावार्थ—सब समझदार देवपुरुष, तीनों लोक तथा 'इडा, भारती, सरस्वती' नामक तीनों देवताएँ हमारे जीवनों से ईर्ष्या-द्वेष आदि विषों को दूर करें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उपजीकाः

यद्वो॑ दे॒वा उ॑पजीका॒ आसि॑ञ्च॒न्धन्व॑न्युद॒कम्। तेन॑ दे॒वप्र॑सूतेने॒दं दू॑षयता वि॒षम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **यत् उदकम्**=जिस जल को **उपजीकाः**=दीमक नाम की श्वेत कीड़ियाँ **धन्वनि**=मरुस्थल में—जलरहित स्थल में **आसिञ्चन्**=अपने मुख से उत्पन्न कर देती हैं, वह जल **वः**=तुम्हारे लिए है। **तेन**=उस **देवप्रसूतेन**=ईश्वरप्रदत्त शक्ति से उत्पन्न जल से **इदं विषं दूषयत्**=इस विष को दूर करो।

भावार्थ—दीमक के मुख में एक अद्भुत शक्ति है। वह उसके द्वारा वायुमण्डल के अम्लजन व उद्रजन को मिलाकर जल उत्पन्न कर देती है। यह जल विष का औषध है। दीमकों से निकाली गई मिट्टी भी अतिमूत्र व नाड़ीव्रण में औषध का काम देती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असुराणां दुहिता देवानां स्वसा

असु॑राणां दु॒हि॒ता॒सि॒ सा दे॒वाना॑मसि॒ स्वसा॑।
दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः संभृ॑ता॒ सा च॑कर्थार॒सं वि॒षम्॥ ३॥

१. हे ओषधे! (वल्मीकमृत्तिके,) तू **असुराणाम्**=बलशाली, प्राणवान् पुरुषों के लिए **दुहिता असि**=बल का दोहन करनेवाली है। **सा**=वह तू **देवानां स्वसा असि**=देववृत्ति के पुरुषों की बहिन के समान है, उनका हित करनेवाली है। २. **दिवः पृथिव्याः**=अन्तरिक्ष के जल से व पृथिवी से **सम्भूता**=उत्पन्न हुई-हुई **सा**=वह तू **विषम् अरसं चकर्थ**=विष को निर्बल कर देती है।

भावार्थ—वल्मीकमृत्तिका प्राणशक्ति भरनेवाली है, मानसवृत्ति को उत्तम बनानेवाली है और विष-प्रभाव को दूर करती है।

विशेष—इस वल्मीकमृत्तिका के प्रयोग से निर्विष शरीरवाला यह प्राणशक्ति व दिव्य-वृत्ति से जीवन को परिपूर्ण करके 'अथर्वाङ्गिरस' बनता है। अगला सूक्त इसी का है।

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सामर्थ्य+नीतिः

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्धं॑स्व प्र॒थय॑स्व च।
य॒थाङ्गं॑ वर्धतां॒ शेप॒स्तेन॑ यो॒षित॒मिज्जहि॥ १॥

१. **आवृषायस्व**=तू सब प्रकार से शक्तिशाली पुरुष की भाँति आचरण कर, **श्वसिहि**=प्राणधारण करनेवाला हो, **वर्धस्व**=वृद्धि को प्राप्त हो, **च**=और **प्रथयस्व**=सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार कर। २. **यथाङ्गम्**=अङ्ग-अङ्ग में—प्रत्येक अङ्ग में (यथा वीप्सायाम्)

शेपः=तेरा सामर्थ्य बढ़े। **तेन**=उस सामर्थ्य के साथ, **योषितम्**=(युष सेवने) सेवनीय नीति को, **इत् जहि**=निश्चय से प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा स्वयं शक्तिशाली बने। अपने सामर्थ्य को बढ़ाता हुआ यह नीतिपूर्वक चले। यही राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने का उपाय है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सैनिकशक्ति व राज्यविस्तार

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः॥ २॥

१. **येन**=जिस कर्म से **कृशं वाजयन्ति**=दुर्बल को बलवान् बनाते हैं, **येन**=जिस उपाय से **आतुरम्**=रोगी को **हिन्वन्ति**=प्रीणित व पुष्ट करते हैं, **तेन**=उसी कर्म से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्य**=इसके **पसः**=राष्ट्र को **धनुः इव**=धनुष् के समान—सैनिक सामर्थ्य के अनुपात में **तानय**=फैलाइए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को निरन्तर शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे। सैनिक सामर्थ्य के अनुपात में ही राष्ट्र का वर्धन होता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अधिज्यामिव धन्वनि

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्शइव रोहितमनवग्लायता सदा॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे साधक! **अहम्**=मैं **ते पसः**=तेरे राष्ट्र को **आ तनोमि**=सब प्रकार से विस्तारवाला करता हूँ। **इव**=जिस प्रकार **अधिधन्वनि**=धनुष् पर **ज्याम्**=डोरी को विस्तृत करते हैं। २. तू **सदा**=सर्वदा **अनवग्लायता**=बिना ग्लानि व थकावटवाले मन के साथ **क्रमस्व**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो, **इव**=जैसेकि **ऋशः**=एक हिंसक पशु **रोहितम्**=मृगविशेष पर आक्रमण करता है। शत्रुओं को तू इसीप्रकार जीतनेवाला बन, जैसेकि एक हिंस्र पशु हिरनों को जीत लेता है।

भावार्थ—राजा सैनिकों को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रक्खे। शस्त्रास्त्र के अनुपात में ही राष्ट्र शक्तिशाली बनता है। सैनिक शक्ति के ठीक होने पर ही राष्ट्र की शक्तियों का विस्तार होता है।

विशेष—राष्ट्र का रक्षण करनेवाला यह व्यक्ति 'जमदग्नि' कहलाता है। प्रजापति वै जमदग्निः-श० १३.२.२.१४। जमदग्नि ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु की ओर

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।
एवा मामभि ते मनः समेतु सं च वर्तताम्॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापान की साधना करनेवाले पुरुषो! **यथा**=जैसे **अयं वाहः**=यह अश्व **सम् आ एति**=सर्वथा मिलकर गतिवाला होता है। दो घोड़े एक यान में जुते हों तो वे जैसे मिलकर चलते हैं, **च**=और **संवर्तते**=मिलकर वर्तनवाले होते हैं, **एव**=इसप्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन

माम् अभि=मेरा (प्रभु का) लक्ष्य करके **सम आ एतु**=सम्यक् गतिवाला हो, **संवर्तताम् च**=और सम्यक् वर्तनवाला हो।

भावार्थ—हम अपने मन को प्रभु में लगाएँ और सदा उत्तम कार्यों में लगे रहकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मयि ते वेष्टतां मनः

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः॥ २॥

१. **अहम्**=मैं **ते मनः**=तेरे मन को **आखिदामि**=इसप्रकार खींचता हूँ, **इव**=जैसे **राजाश्वः**=श्रेष्ठ घोड़ा **पृष्ट्याम्**=शंकुबद्ध सम्बन्धन रज्जु को। २. **यथा रेष्मछिन्नम्**=(रेष्मा=वात्या) जैसे वात्यात्मक वायु से छिन्न तृण उसके वश में हुआ-हुआ उसी में घूमता है, उसी प्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन **मयि वेष्टताम्**=मेरे अधीन होकर घूमनेवाला हो। तेरा मन मुझसे कभी दूर न हो।

भावार्थ—जैसे श्रेष्ठ घोड़ा सम्बन्धन रज्जु को और वात्य तृणों को खींचता है, उसी प्रकार मैं (प्रभु) तेरे मन को अपनी ओर खींचता हूँ।

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आञ्जन, मधुघ, कुष्ठ, नलद

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥ ३॥

१. **आञ्जनस्य**=(अञ्ज=व्यक्ति) संसार को व्यक्त करनेवाले—प्रकृति से संसार को प्रकट करनेवाले **मधुघस्य**=(मद्+घृ सेचने) आनन्द का सेचन करनेवाले, **कुष्ठस्य**=(कुष निष्कर्षे) सब बुराइयों को बाहर कर देनेवाले, जीवन को पवित्र बना देनेवाले **च**=और इसप्रकार **नलदस्य**=बन्धनों को काट देनेवाले (नल बन्धने, दो अवखण्डने), **तुरः**=(तुर्वी हिंसायाम्) सब आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले व **भगस्य**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभु के **अनुरोधनम्**=पूजन को, पूजा द्वारा अनुकूलता को **हस्ताभ्याम्**=हाथों से, नकि कानों से **उद्भरे**=धारण करता हूँ। २. हाथों से पूजन को धारण करने का भाव यह है कि मैं अपने कर्त्तव्यकर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन करता हूँ (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः)। गुण-कीर्तन तो श्रव्य भक्ति है। यहाँ ये कर्म आँखों से दीखते हैं। 'भूखे को रोटी देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का उपचार करना' प्रभु का हाथों द्वारा उपासन है। इसे करता हुआ उपासक जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता है (आञ्जन), जीवन को आनन्द से सिक्त करता है (मदुघ), बुराइयों को दूर करता है (कुष्ठ), अन्ततः बन्धनों को काटनेवाला होता है (नलद)। यही मार्ग है जिससे कि उपासक आसुरवृत्तियों का हिंसन करके (तुर) वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है (भग)।

भावार्थ—हम कर्त्तव्य कर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन करते हुए 'आञ्जन, मदुघ, कुष्ठ, नलद, तुर व भग' बनें।

विशेष—प्रभुपूजन द्वारा सब आसुर वृत्तियों को दूर करके जीवन को उत्कृष्ट दीप्ति से युक्त करनेवाला यह 'उच्छोचन' अगले सूक्त का ऋषि=द्रष्टा है।

अथ पञ्चदशः प्रपाठकः

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रु-नियमन

सं॒दानं॑ वो॒ बृह॒स्पतिः॒ सं॒दानं॑ सवि॒ता क॑रत्।
सं॒दानं॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा सं॒दानं॒ भगो॑ अ॒श्विना॑॥ १॥

१. हे शत्रुओ! **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हारा **सन्दानम्**=बन्धन करे। **सविता**=सर्वप्रेरक प्रभु **सन्दानं करत्**=तुम्हें बन्धन में डाले। ज्ञान के स्वामी, प्रेरक प्रभु से उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके स्वाध्याय में निरत हम लोग काम-क्रोध आदि को वश में करनेवाले हों। २. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) ईर्ष्या-द्वेष आदि का नियमन करनेवाला प्रभु **सन्दानम्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का बन्धन करे। हम सबके प्रति स्नेह की साधना करते हुए शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें। **भगः**=वह ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **सन्दानम्**=शत्रुओं का बन्धन करे। भग का स्मरण करते हुए हम सब ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को जानें और इसप्रकार काम-क्रोध आदि को वशीभूत करें तथा विषयों में फँसने से बचें। **अश्विना**=प्राणापान शत्रुओं का बन्धन करें। प्राणसाधना हमें काम-क्रोध आदि को वश में करने में सहायक हो।

भावार्थ—हम प्रभु को 'बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा व भग' के रूप में स्मरण करते हुए तथा प्राणसाधना में प्रवृत्त होकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करें।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपासक का दृढ़ निश्चय

सं प॑र॒मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान्। इन्द्र॒स्तान्पर्यं॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम्॥ २॥

१. प्राणसाधना करता हुआ उपासक दृढ़ निश्चय करता है कि **परमान्**=उत्कृष्ट शत्रुओं को—ज्ञान-संग व सुख-संग को **संद्यामि**=सम्यक् बद्ध करता हूँ—इन्हें वशीभूत करता हूँ। सत्त्वगुण के ये ही बन्धन है—'सुखसंगेन बध्नाति (सत्त्वं) ज्ञानसंगेन चानघ'। **अवमान्**=निकृष्ट शत्रुओं को—प्रमाद, आलस्य व निद्रा को **सं (द्यामि)**=सम्यक् बाँधता हूँ—इन्हें भी वशीभूत करता हूँ। ये ही तमोगुण के बन्धन हैं 'प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति धनञ्जय'। **अथो**=और **अव मध्यमान्**=रजोगुणजनित मध्यम बन्धनों को भी **सं (द्यामि)**=वशीभूत करता हूँ। यह रजोगुण हमें 'तृष्णा व धनोपार्जनोपायभूत कर्मों में लगे रहनेरूप' बन्धन से बाँधता है। मैं इनसे भी ऊपर उठता हूँ। २. **इन्द्रः**=बल से होनेवाले सब कर्मों को करनेवाला प्रभु **तान्**=उन 'ज्ञान-संग, सुख-संग, प्रमाद, आलस्य, निद्रा; तृष्णा व कर्मसंग' को **पर्यहाः**=(परि हृ) परिवर्जित करे। हम 'इन्द्र' अर्थात् जितेन्द्रिय बनकर इन शत्रुओं को वशीभूत करें। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **तान्**=उन शत्रुओं को **दाम्ना**=रज्जु—संयम-रज्जु से **संद्य**=बाँध डालिए। हम अग्नि बनते हुए—आगे बढ़ने की वृत्तिवाले होते हुए इन शत्रुओं को वशीभूत कर सकें।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की भावनावाले (इन्द्र+अग्नि) बनकर 'परम, अवम व मध्यम' सभी शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र+अग्नि (सेनापति+राजा)

अ॒मी ये युध॑मा॒यन्ति॑ के॒तून्कृ॒त्वानी॑क॒शः। इन्द्र॒स्तान्पर्यं॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम्॥ ३॥

१. **अमी**=वे **ये**=जो शत्रु **युधम् आयन्ति**=युद्ध को—युद्ध करने के लिए आते हैं, जो **केतून् कृत्वा**=ध्वजाओं को लेकर **अनीकशः**=(संघशः) समूहों में उपस्थित होते हैं, **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक सेनापति **तान्**=उन्हें **पर्यहाः**=दूर परिवर्जित करे। सेनापति शत्रुसैन्य को रण में पराजित करके दूर भगा दे। हे **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-जानेवाले राजन्! **त्वम्**=आप **तान्**=उन शत्रुओं को **संद्य**=सम्यक् बन्धन में डालो।

भावार्थ—सेनापति व राजा मिलकर राष्ट्र को शत्रुकृत उपद्रवों से रहित करें।

विशेष—अन्तःशत्रुओं का विजेता व प्रकृष्ट दीप्तियुक्त जीवनवाला 'प्रशोचन' अगले सूक्त का ऋषि है।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रशोचनः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

आदान-सन्दान

आदानेन सन्दानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन्॥ १॥

१. **आदानेन**=(आदीयते आबध्यते अनेन इति) पाश=यन्त्रविशेष से **सन्दानेन**=बन्धन के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **आद्यामसि**=हम समन्तात् बद्ध करते हैं। २. **ये च**=और जो **एषाम्**=इनके **अपानाः प्राणाः**=अन्तर्मुख प्राणवृत्तिवाले और बहिर्मुख श्वासवृत्तिवाले **असून्**=प्राण हैं, उन्हें **असुना समच्छिदन्**=प्राण से काट डालते हैं—गलगत पाशयन्त्र से प्राणापान की गति को रोककर उन्हें नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—गलगत पाशयन्त्र द्वारा हम शत्रुओं के प्राणों का उच्छेद करते हैं।

ऋषिः—**प्रशोचनः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

'तपसा इन्द्रेण संशितम्' आदानम्

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम्।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम्॥ २॥

१. **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा **तपसा**=तप से **संशितम्**=तीक्ष्ण किये हुए **इदम्**=इस **आदानम्**=शत्रुओं के बन्धन-पाश को **अकरम्**=किया है—जितेन्द्रिय व तपस्वी बनकर मैंने शत्रुबन्धन पाश बनाया है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अत्र**=इस जीवन में **ये**=जो **नः**=हमारे **अमित्राः**=शत्रु **सन्ति**=हैं, **तान्**=उन्हें **त्वम्**=आप **आ द्या**=बन्धन में डालो। आपके अनुग्रह से हमारे सब शत्रु हमारे द्वारा बद्ध किये जाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से जितेन्द्रिय व तपस्वी बनकर हम सब शत्रुओं को बाँधनेवाले बनें। हम काम-क्रोधादि को वश में कर सकें।

ऋषिः—**प्रशोचनः**॥ देवता—**सोमः, इन्द्रश्च**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

इन्द्र+मरुत्वान्

ऐनान्द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः॥ ३॥

१. **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की वृत्ति **एनान्**=इन शत्रुओं को **आद्यताम्**=सर्वथा बन्धन में करनेवाली हो। इन शत्रुओं को बन्धन में करने पर **सोमः**=शरीरस्थ (वीर्य) **च**=और

राजा=(राजृ दीप्तौ) जीवन की दीप्ति **मेदिनौ**=हमारे प्रति स्नेह करनेवाली हों। शत्रुओं को वशीभूत करने पर शरीर में सोम का रक्षण होता है और जीवन दीप्त बनता है। २. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला **इन्द्रः**=इन्द्र **नः**=हमारे **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **आदानम्**=बन्धन को **कृणोतु**=करे। प्राणसाधना करता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष काम-क्रोध आदि शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला हो।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। ऐसा होने पर ही हम सोम का रक्षण कर पाएँगे और जीवन को दीप्ति बना पाएँगे। प्राणसाधना करते हुए जितेन्द्रिय बनना ही काम-क्रोध आदि के वशीकरण का उपाय है।

विशेष—जितन्द्रिय पुरुष ही नीरोग बनता है। यह 'कासा' आदि रोगों का विजेता 'उन्मोचन' कहलता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कासा का दूर गमन (यथा मनः)

यथा॒ मनो॑ मनस्के॒तैः प॑रा॒पत॑त्याशुमत्।
ए॒वा त्वं कासे॒ प्र प॑त॒ मन॒सोऽनु॒ प्रवा॑य्य ँ म्॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **मनः**=मन **मनस्केतैः**=(मनसा बुद्धिवृत्या) बुद्धिवृत्ति से ज्ञायमान विषयों के साथ **आशुमत्**=शीघ्रता से युक्त हुआ-हुआ **परापतति**=दूर-दूर जाता है **एव**=इसीप्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **मनसः प्रवाय्यम्**=मन की प्रगन्तव्य अवधि को **अनु प्रपत**=लक्ष्य करके गतिवाला हो—तू मनोवेग से इस पुरुष से निकलकर दूर देश में चला जा।

भावार्थ—जैसे मन शीघ्रता से दूर देश में चला जाता है, उसी प्रकार यह खाँसी हमें छोड़कर दूर चली जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा बाणः

यथा॒ बाण॒ः सुसं॑शितः परा॒पत॑त्याशुमत्।
ए॒वा त्वं कासे॒ प्र प॑त पृथि॒व्या अनु॒ सं॒वत॑म्॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **सुसंशितः**=सम्यक् तीक्ष्ण किया हुआ **बाणः**=बाण धनुष् से विमुक्त हुआ-हुआ **आशुमत् परापतति**=शीघ्र दूर जाता है, **एव**=इसीप्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **पृथिव्याः**=पृथिवी के **संवतम्**=निम्न प्रदेश को **अनु प्रपत**=लक्ष्य करके गतिवाला हो, बाण के वेग से तू पाताल में जा।

भावार्थ—जैसे धनुष् से छोड़ा बाण शीघ्रता से दूर जाता है, वैसे ही यह कासारोग हमसे दूर चला जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः

यथा॒ सूर्य॑स्य र॒श्मय॑ः परा॒पत॑न्त्याशुमत्। ए॒वा त्वं कासे॒ प्र प॑त समु॒द्रस्यानु॒ विक्ष॒रम्॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे उदय के पश्चात् **सूर्यस्य रश्मयः**=सूर्य की किरणें **आशुमत् परापतन्ति**=शीघ्रता से सुदूर पहुँच जाती हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **समुद्रस्य**=समुद्र के **विक्षरम् अनु**=विविध क्षरणवाले देश का लक्ष्य करके **अनु प्रपत**=शीघ्रता से दूर जा। इस पुरुष

को छोड़कर तू सूर्य-रश्मियों की भाँति शीघ्र समुद्रपर्यन्त चला जा।

भावार्थ—कासा हमसे इसप्रकार दूर भाग जाए जैसेकि सूर्य-रश्मियाँ समुद्रपर्यन्त देशों में जा पहुँचती हैं।

विशेष—रोगों से बचने के लिए गृहों का उचित निर्माण नितान्त आवश्यक है। घर का उचित निर्माण करके रोगों को दूर रखनेवाला 'प्रमोचन' अगले सूक्त का ऋषि=द्रष्टा है।

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदर्शगृह

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्॥ १॥

१. हे शाले! **ते**=तेरे **आयने**=आगमन मार्ग में और **परायणे**=निकास में अथवा अगले तथा पिछले भाग में **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली **दूर्वाः**=घास **रोहन्तु**=उगें **वा**=और **तत्र**=वहाँ **उत्सः**=उदकप्रस्रवण (चश्मा) **जायताम्**=हो **वा**=अथवा **पुण्डरीकवान्**=कमलोंवाला **ह्रदः**=तालाब हो।

भावार्थ—घर में आगे-पीछे दूर्वा लगी हो। उसमें उत्स व कमलयुक्त तालाब की भी व्यवस्था की जाए।

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मध्ये ह्रदस्य

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि॥ २॥

१. **इदम्**=यह **अपाम्**=प्रजाओं का **न्ययनम्**=निवास-स्थान और **समुद्रस्य निवेशनम्**=जलसमूह का गृह हो (निविशतेऽस्मिन् इति)। **नः गृहाः**=हमारे घर **ह्रदस्य मध्ये**=तालाब के मध्य में हों। हे अग्ने! तू अपने **मुखाः**=ज्वालारूप मुखों को **पराचीना कृधि**=पराङ्मुख कर। ऐसे घरों में अग्निदाह का भय नहीं होता।

भावार्थ—घरों में जलों के सुप्रबन्ध से अग्निदाह की आशंका नहीं रहती।

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिमस्य जरायुणा

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्॥ ३॥

१. हे **शाले**=निवासस्थान! **त्वा**=तुझे **हिमस्य जरायुणा**=हिम (शीतल जल) के वेष्टन से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से घेरते हैं, तू **नः**=हमारे लिए **शीतह्रदाः भुवः**=शीतल जलवाले तालाब से युक्त हो। **हि**=निश्चय से इस स्थिति में **अग्निः**=अग्नि **भेषजं कृणोतु**=हमारे रोगों के निवारण करने का साधन होकर रोगों को दूर करे।

भावार्थ—घर तालाब आदि से घिरे हुए हों, जिससे बाहर की आग उस तक न पहुँच सके। घरों के अन्दर अग्नि भी भेषज बने—कष्टों को दूर करने का साधन बने।

विशेष—इन घरों में शान्तिपूर्वक निवास करनेवाला 'शन्ताति' अगले सूक्त का ऋषि है।

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रायमाणायै

विश्वंजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ १ ॥

१. हे **विश्वजित्**=सम्पूर्ण संसार को जीतनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **त्रायमाणायै**=जल व अग्नि की उचित व्यवस्था के द्वारा रक्षा करनेवाली शाला के लिए **परिदेहि**=दीजिए—सौंपिए। मुझे ऐसा घर प्राप्त कराइए जो रक्षण करनेवाला हो, जिसमें अग्निदाहादि उपद्रवों व रोगों का भय न हो। २. **त्रायमाणे**=हे रक्षा करनेवाली शाले! **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों **च**=और **चतुष्पात्**=चार पैरवाले गौ आदि पशुओं को **रक्ष**=सुरक्षित कर **च**=और **यत्**=जो **नः**=हमारा **स्वम्**=धन है, उसकी भी रक्षा करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए 'त्रायमाण' शाला प्राप्त कराएँ। इसमें हमारे सब मनुष्य व पशु सुरक्षित रूप से निवास करें। यह शाला हमारे सब द्रव्यों का भी रक्षण करनेवाली हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वजिते

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वंजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ २ ॥

१. हे **त्रायमाणे**=रक्षा करनेवाली शाले! तू **मा**=मुझे **विश्वजिते**=सम्पूर्ण संसार का विजय करनेवाले प्रभु के लिए **परिदेहि**=अर्पित कर। तुझमें निवास करता हुआ मैं प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ। २. हे **विश्वजित्**=संसार के विजेता प्रभो! **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँवोवाले मनुष्यों तथा **चतुष्पात्**=चार पाँववाले गवादि पशुओं का **रक्ष**=रक्षण कीजिए, **च**=और **यत्**=जो **नः**=हमारा **स्वम्**=धन है, उसका भी रक्षण कीजिए।

भावार्थ—सुरक्षित घरों में निवास करते हुए हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमारे मनुष्यों, पशुओं व धनों को सुरक्षित करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कल्याणयै

विश्वंजित्कल्याणयै ∫ मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ३ ॥

१. **विश्वजित्**=संसार के विजेता हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **कल्याणयै**=शुभों की साधिका याग आदि क्रिया के लिए **परिदेहि**=अर्पित कीजिए। आपकी प्रेरणा से सुरक्षित घर में मैं यज्ञादि करनेवाला बनूँ। २. हे **कल्याणि**=शुभ-साधिके यज्ञादि क्रिये! तू **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दोपाये मनुष्यादि को **च**=तथा **चतुष्पात्**=गवादि पशुओं को **रक्ष**=रक्षित कर, **च**=तथा **यत् नः स्वम्**=जो हमारा धन है, उसे भी रक्षित कर।

भावार्थ—प्रभु हमें याज्ञादि शुभ-साधिका क्रियाओं में प्रवृत्त करें। इन क्रियाओं को करते हुए हम सभी प्रकार से सुरक्षित हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वविदे

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ४॥

१. हे **कल्याणि**=शुभ-साधिके यज्ञादि क्रिये! **मा**=मुझे **सर्वविदे परिदेहि**=सर्वज्ञ प्रभु के प्रति अर्पित कर। यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। २. हे **सर्ववित्**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्यादि को **च**=तथा **चतुष्पात्**=चार पाँववाले गौ आदि पशुओं को **रक्ष**=रक्षित कीजिए, **च**=और **यत् नः स्वम्**=जो हमारा धन है, उसका भी रक्षण कीजिए।

भावार्थ—हम यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु हमारे रक्षक हों।

विशेष—इस सूक्त का सामान्य भाव यह है कि १. प्रभु हमें ऐसा घर प्राप्त कराएँ जो हमारा रक्षण करनेवाला हो, २. इस घर में सुरक्षित रहते हुए हम विश्वजित् प्रभु का स्मरण करें, ३. प्रभु हमें याग आदि शुभ क्रियाओं में प्रेरित करें, ४. ये शुभ क्रियाएँ हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हों।

प्रभु को प्राप्त करनेवाला और परिणामतः आनन्दमय जीवनवाला यह 'शौनक' बनता है (शुनं सुखम्)। शौनक ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह मेधा के लिए प्रार्थना करता है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गोभिः अश्वेभिः' मेधा

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया॥ १॥

१. हे **मेधे**=आत्मा को धारण करनेवाली चितिशक्ते! **त्वम्**=तू **नः**=हमें **गोभिः अश्वेभिः**=ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ **आगहि**=प्राप्त हो। हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ बुद्धि प्राप्त हो। तू ही **प्रथमा**=सबसे मुख्य है। हे मेधे! तू **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान के सूर्य प्रभु की ज्ञानमयी किरणों के साथ प्राप्त हो, **त्वम्**=तू ही **नः**=हमारे **यज्ञिया**=जीवन-यज्ञ का सम्पादन करनेवाली **असि**=है।

भावार्थ—हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के साथ मेधा प्राप्त हो। इसके द्वारा हम ज्ञानसूर्य प्रभु से ज्ञान की रश्मियों को प्राप्त करें। यह हमारे जीवन-यज्ञ का सम्पादन करनेवाली हो।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

मेधां 'प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः'

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ २॥

१. **अहं मेधाम्**=मैं मेधा बुद्धि को **देवानाम् अवसे हुवे**=अपने जीवन में दिव्य गुणों के रक्षण के लिए पुकारता हूँ, उस मेधा को जो **प्रथमाम्**=सबसे मुख्य स्थान में स्थित है, **ब्रह्मण्वतीम्**=वेदज्ञानवाली है **ब्रह्मजूताम्**=ज्ञानियों से सेवित हुई है, **ऋषिष्टुताम्**=तत्त्वद्रष्टाओं से स्तुत हुई है और **ब्रह्मचारिभिः**=ज्ञान का चरण करनेवाले विद्यार्थियों से **प्रपीताम्**=प्रवर्धित हुई है,

अथवा पी गई है, सम्यक् ग्रहण की गई है।

भावार्थ—बुद्धि हमारे जीवनों में दिव्य गुणों के रक्षण का साधन बनती है। इसी से ज्ञान का वर्धन होता है और 'ज्ञान प्राप्त करना' ही इसकी वृद्धि का साधन बनता है।

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**मेधा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋभवः, असुराः, ऋषयः (वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण)

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि॥ ३॥

१. **यां मेधाम्**=जिस मेधाबुद्धि को **ऋभवः**=(उरु भान्ति) विविध कला-कौशल के ज्ञान से सुशोभित शिल्पी **विदुः**=जानते हैं, **यां मेधाम्**=जिस मेधाबुद्धि को **असुराः**—प्राणसाधना करनेवाले (असु=प्राण) और प्राणसाधना द्वारा शत्रुओं को परे फेंकने (अस् क्षेपणे) **विदुः**=जानते हैं और **याम्**=जिस **भद्राम्**=कल्याणी व स्तुत्य **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **विदुः**=जानते हैं, **ताम्**=उस मेधा को **मयि**=हम सब अपने में **आवेशयामसि**=सब प्रकार से स्थापित करते हैं।

भावार्थ—बुद्धि ही हमें सब कलाओं में प्रवीण करती है (ऋभवः)। यही हमें शत्रुओं को विनष्ट करने की शक्ति प्रदान करती है (असुराः), इसी से हम तत्त्वद्रष्टा बनकर कल्याण को सिद्ध कर पाते हैं (ऋषयः)। इसे प्राप्त करने के लिए हम यत्नशील हों।

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'भूतकृतः' ऋषयः

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु॥ ४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **भूतकृतः**=(भूतम्) प्रत्येक कार्य को उचितरूप में करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा अथवा बुराइयों का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **मेधाविनः**=प्रशस्त मेधावाले पुरुष **विदुः**=जानते हैं, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप तया **मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे भी **अद्य**=आज **मेधाविनं कृणु**=मेधावी कीजिए।

भावार्थ—हमें वह मेधा प्राप्त हो, जिसके प्राप्त होने पर हम उचित ही कर्म करते हैं और सब बुराइयों को दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**मेधा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्यरश्मिभिः वचसा

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥ ५॥

१. **मेधाम्**=इस मेधाबुद्धि को **सायम्**=सायंकाल, इस **मेधाम्**=मेधा को **प्रातः**=प्रातःकाल तथा इस **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **मध्यन्दिनं परि**=मध्याह्न में **वेशयामहे**=अपने अन्दर स्थापित करने के लिए यत्नशील होते हैं। यह प्रयत्न ही वस्तुतः 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तन सवन' हैं। २. हम इस **मेधाम्**=मेधा को **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान के सूर्य प्रभु के ज्ञान की किरणों के द्वारा तथा **वचसा**=वेदवचनों के द्वारा अपने में धारण करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उस सूर्य की रश्मियों की प्राप्ति के लिए साधनभूत ध्यान, प्राणायाम आदि को अपनाते हैं तथा वेदवचनों का स्वाध्याय करते हैं।

भावार्थ—हम 'प्रातः, मध्याह्न व सायं' सदा मेधा को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। हम ध्यान द्वारा ज्ञान के सूर्य प्रभु की रश्मियों को देखने का यत्न करें और स्वाध्याय द्वारा वेदवाणी को प्राप्त करें। यही मेधावी बनने का मार्ग है।

विशेष—बुद्धि की साधना में प्रवृत्त मनुष्य 'अथर्वा' बनता है—संसार के विषयों से आन्दोलित न होनेवाला। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है। यह पिप्पली के प्रयोग से शरीर को नीरोग रखता है।

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षिप्तभेषजी अतिविद्धभेषजी

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू ३तातिविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥ १॥

१. **पिप्पली**=यह 'कणा' आदि नामोंवाली ओषधि **क्षिप्तभेषजी**=(क्षिप्तानि अन्यानि भेषजानि यया) अन्य सब ओषधियों को तिरस्कृत करनेवाली है—सबसे श्रेष्ठ है, अथवा (क्षिप्तस्य भेषजी) वातरोगनाशक है **उत**=और **अतिविद्धभेषजी**=(कृत्स्नं रोगं अतिविध्यति निपीडयति इति अतिविद्धा, सा चासौ भेषजः) सब रोगों का अतिशयेन वेधन करनेवाली औषध है, अथवा 'क्षिप्त' रोग को दूर करनेवाली है, जिसमें कि रोगी वेदना से हाथ-पैर पटका करता है। यह 'अतिविद्ध' रोग को भी दूर करती है—जिसमें जाँघ में तीव्र वेदना होती है। २. **ताम्**=उस पिप्पली को **देवाः**=वायु-सूर्य आदि सब देव **समकल्पयन्**=बड़ा शक्तिशाली बनाते हैं। **इयम्**=यह **जीवितवै अलम्**=जिलाने के लिए पर्याप्त है।

भावार्थ—पिप्पली नामक ओषधि 'क्षिप्त व अतिविद्ध' आदि रोगों को दूर करती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिप्पलियों का संवाद

पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ २॥

१. **पिप्पल्यः**=पिप्पलियाँ **जननात् अधि**=जन्म से ही **आयतीः**=आती हुई **सम् अवदन्त**=परस्पर बात करती हैं कि **यं जीवम्**=जिस जीव को **अश्नवामहै**=हम औषधरूपेण प्राप्त होती हैं, **सः**=वह **पूरुषः**=पुरुष **न रिष्याति**=नष्ट नहीं होता—हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—पिप्पलियाँ जब अंकुरित होकर भूमि से ऊपर आती हैं तब मानो परस्पर बात करती हैं कि हमें औषधरूपेण प्राप्त करनेवाला पुरुष कभी हिंसित नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असुराः देवाः (न्यखनन्, उदवपन्)

असुरास्त्वा न्य ∫ खनन्देवास्त्वोदवपन्पुनः।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्॥ ३॥

१. **असुराः**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले वैद्य **त्वा न्यखनन्**=तुझे खोदते हैं। **देवाः**=रोगों को जीतने की कामनावाले वैद्य **त्वा**=तुझे **पुनः उत् अवपन्**=फिर से बोते हैं। २. उस तुझे जो तू **वातीकृतस्य भेषजीम्**=वातकृत रोगों की भेषज है **अथो**=और **क्षिप्तस्य**=उन्माद रोग को दूर

करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि है।

भावार्थ—इस 'वातीकृत तथा क्षिप्त' की भेषजभूत पिप्पली को देव तथा असुर खोदते हैं तथा पुनः बो देते हैं। ये पिप्पली का मूलोच्छेद नहीं होने देते।

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रभु का शरीररूप 'आत्मा' (स्वां तन्वम्)

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं ∫ पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **प्रत्नः**=सनातन हैं, **हि**=निश्चय से **कम्**=आनन्दस्वरूप आप **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं **च**=और **अध्वरेषु**=यज्ञों में आप ही **सनात्**=सदा से **होता**=आहुति देनेवाले हैं—आपके द्वारा ही सब यज्ञ परिपूर्ण होते हैं, **च**=और **नव्यः**=आप अपने इस शरीर को, अर्थात् मैं जो आपका शरीर हूँ, उसे **पिप्रायस्व**=प्रीणित कीजिए। आपकी कृपा से मैं अपना पूरण कर सकूँ **च**=और आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सौभगम्**=सौभाग्य को **आयजस्व**=सर्वथा प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु सनातन हैं, सदा स्तुत्य हैं, वे ही सब यज्ञों के होता हैं, वे ही स्तुत्य हैं। हम प्रभु के शरीररूप हैं, हममें प्रभु का निवास है। प्रभु इस शरीर का पूरण करें और हमें सौभाग्य प्रदान करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सब दुरितों से दूर

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषदुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ २॥

१. **ज्येष्ठघ्न्याम्**=(हन् गतौ) अत्यन्त प्रशस्त क्रियाओं में **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए हे अग्ने! आप **एनम्**=अपने इस उपासक को **विचृतोः यमस्य**=(विमोचयित्रोः) अन्धकार से छुड़ानेवाले सूर्य-चन्द्र के नियम के **मूलबर्हणात्**=मूल छेदन से **परिपाहि**=बचाइए। प्रशस्त क्रियाओं में लगा हुआ उपासक अपने हृदय में आपके प्रकाश को देखता है। आप इस उपासक को सूर्य-चन्द्रमा के नियम को न तोड़ने के लिए प्रेरित कीजिए—'स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'—सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से मार्ग पर चलता हुआ यह उपासक कल्याण प्राप्त करता है। २. आप **एनम्**=इस उपासक को **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों—अशुभाचरणों से **अति**=उलाँघकर **शतशारदाय**=सौ वर्ष के **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घ जीवन के लिए **नेषत्**=ले-चलिए।

भावार्थ—हम उत्तम क्रियाओं को करते हुए प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु हमें सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गतिवाला बनाएँ और सब दुरितों को दूर करके हमें सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्याघ्रे अह्नि

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्॥ ३॥

१. **व्याघ्रे**=(घ्रा गन्धोपादाने, गन्ध=सम्बन्ध) विशिष्ट सम्बन्ध का उपादान करनेवाले (त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्०) **अह्नि**=(न जहाति) कभी भी हमें न छोड़नेवाले उस प्रभु में **वीरः अजनिष्ट**=वीर प्रादुर्भूत होता है। अन्य लोग विपत्ति में हमारा साथ छोड़ जाते हैं, परन्तु उस समय प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध और घनिष्ठ हो जाता है। प्रभु ही वस्तुतः हमारे माता और पिता हैं 'वे अपने इस सम्बन्ध को कभी छोड़ देंगे' ऐसी बात नहीं। हम ही उन्हें भूले रहते हैं। उस प्रभु में स्थित होनेवाला व्यक्ति वीर बनता है। यह **नक्षत्रजाः**=विज्ञान के नक्षत्रों में विकास प्राप्त करता हुआ **जायमानः**=उत्तरोत्तर शक्ति के प्रादुर्भाववाला **सुवीरः**=उत्तम वीर बनता है। २. **सः**=वह सुवीर **वर्धमानः**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **पितरं मा वधीत्**=पिता का हिंसन करनेवाला न हो—पिता की बात को न माननेवाला न हो तथा **जनित्रीम्**=जन्म देनेवाली **मातरं मा प्रमिनीत्**=माता को हिंसित न करे—माता के अनुशासन में चले। 'प्रभु' पिता हैं, 'वेद' माता है। यह सुवीर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार और वेद के आदेश के अनुसार आचरण करनेवाला हो।

भावार्थ—हम उस विशिष्ट सम्बन्धवाले, कभी भी हमारा साथ न छोड़नेवाले प्रभु में स्थित होते हुए 'वीर' बनें। विज्ञान के नक्षत्रों में दीप्त बनकर उत्तम वीर हों। माता-पिता के कहने में चलें—प्रभु की प्रेरणा और वेद के आदेश-अनुसार।

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

अनुन्मदितः

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्यय॑ं यो ब॒द्धः सुय॑तो॒ लाल॑पीति।
अ॒तोऽधि॑ ते कृणवद्भाग॒धेय॑ं य॒दानु॑न्मदि॒तोऽस॑ति॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमं मे पुरुषम्**=मेरे इस पुरुष को **मुमुग्धि**=रोगों के कारणभूत पापों से मुक्त कीजिए। **अयम्**=यह **यः**=जो **बद्धः**=इन्द्रियों से बद्ध हुआ-हुआ **सुयतः**=विषयों से खूब ही जकड़ा हुआ—इन्द्रियाँ जिसके लिए ग्रह बनी हुई हैं और विषय अतिग्रह बने हुए हैं—**लालपीति**=बहुत ही बड़बड़ाता है—असम्बद्ध प्रलाप करता है, इसे आप मुक्त कीजिए। २. **अतः**=अब **यदा अनुन्मदितः असति**=जब यह उन्मादरहित हो जाए तब **ते**=आपके **भागधेयम्**=भाग को **अधिकृणवत्**=अधिक करे, अर्थात् यह खूब ही आपका उपासन करे, जिससे पुनः उन्मादवाला न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना ही हमें विषयोन्माद से बचानेवाली औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण=उन्माद-भेषज

अ॒ग्निष्टे॒ नि श॑मयतु॒ यदि॑ ते॒ मन॒ उद्यु॑तम्।
कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान्भे॑षजं॒ यथानु॑न्मदि॒तोऽस॑सि॥ २॥

१. हे साधक! **यदि**=यदि **ते**=तेरा **मनः**=मन **उद्युतम्**=(युज् बन्धने) विषयों से बद्ध हुआ है तो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **ते निशमयतु**=(शमो दर्शने) तुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त कराएँ। विषयों की असारता दिखलाकर तुझे विषयों से पराङ्मुख करें। २. प्रभु कहते हैं कि **विद्वान्**=ज्ञानी मैं तेरे लिए **भेषजं कृणोमि**=औषध करता हूँ **यथा**=जिससे तू **अनुन्मदितः अससि**=उन्मादरहित होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही वह औषध है जो विषयों की असारता दिखाकर हमें विषयोन्माद से बचाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवैनसात् रक्षसः

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति॥ ३॥

१. **देवैनसात्**=देवों के विषयों में किये गये पाप से **उन्मदितम्**=उन्मादयुक्त हुए-हुए को अथवा **रक्षसः**=(अपने रमण के लिए औरों को क्षय करनेवाले) रोगकृमियों से **उन्मत्तं परि**=उन्मत्त हुए पुरुष को लक्ष्य करके विद्वान्—ज्ञानी मैं **यदा**=जब **भेषजं कृणोमि**=चिकित्सा करता हूँ तब **अनुन्मदितः असति**=यह उन्मादरहित हो जाता है।

भावार्थ—उन्माद के दो कारण हो सकते हैं—एक, देवों के विषय में कोई पाप करना और इससे मानस सन्तुलन खो बैठना। दूसरे, किसी रोगकृमि से उत्पन्न विकार के कारण। ज्ञानी पुरुष इन दोनों प्रकार के उन्माद को उचित औषध-प्रयोग से दूर करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पागलपन के कारण

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः। पुनस्त्वा दुर्विश्वेदेवा यथानुन्मदितोऽससि॥ ४॥

१. हे उन्मादयुक्त पुरुष! **अप्सरसः**=कर्मों में विचरनेवाले **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर से **दुः**=चेतना प्राप्त कराएँ, अर्थात् 'कर्मों में लगे रहना' उन्माद के आक्रमण से बचने का उपाय है। **इन्द्रः**=इन्द्र **पुनः**=फिर से चेतना दे। जितेन्द्रियता हमें उन्माद का शिकार होने से बचाती है। **भगः**=ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **पुनः**=फिर से चैतन्य प्राप्त कराए। 'सेवनीय ऐश्वर्य का होना' हमें उन्मत्त नहीं होने देता। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव (दिव्य गुण) **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर **दुः**=चेतना प्राप्त कराएँ। राक्षसीभाव भी मनुष्य को उन्मत्त कर देते हैं। मैं तुझे दिव्य भाव प्राप्त करता हूँ **यथा**=जिससे **अनुन्मदितः अससि**=तू उन्मादरहित होता है।

भावार्थ—'अकर्मण्यता, अजितेन्द्रियता, दरिद्रता व दिव्य गुणों का न होना' उन्माद का कारण बनता है। हम 'क्रियाशील, जितेन्द्रिय, सौभाग्यसम्पन्न वे दैवी सम्पदावाले' बनकर पूर्ण स्वस्थ मस्तिष्कवाले हों।

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ग्राही के पाश से मुक्ति

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ १॥

१. **अयम्**=यह रोग **एषाम्**=इस परिवार के लोगों में हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ज्येष्ठं मा वधीत्**=विद्या और वय (अवस्था) में बड़े को न मारे। **एनम्**=इस ज्येष्ठ को **मूलबर्हणात्**=रोग के मूल के विनाश व उच्छेद के द्वारा **परिपाहि**=रक्षित कर। २. **प्रजानन्**=ज्ञानी होता हुआ **सः**=वह तू **ग्राह्याः पाशान्**=जकड़ लेनेवाले गठिया आदि रोगों के फन्दों को **विचृत**=खोल डाल। प्रभु तुझे ग्राही के पाशों से मुक्त करें। **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **तुभ्यम् अनुजानन्तु**=तुझे अनुज्ञा देनेवाले हों। उनकी अनुज्ञा से तू ग्राही के फन्दों को परे फेंक डाल। सूर्य आदि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताने पर ग्राही इत्यादि रोग हमें पीड़ित नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभुकृपा से घर का बड़ा व्यक्ति ग्राही इत्यादि रोगों के फन्दे में पड़कर शरीर को छोड़नेवाला न हो। रोगों के मूल के नाश से यह सुरक्षित रहे। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में

यह इन रोगों से आक्रान्त न हो (अन्य व्यक्ति भी रोगाक्रान्त न हों। सामान्यतः वृद्धावस्था में ये रोग आ घेरते हैं, अतः बड़ों के लिए प्रार्थना की गई है)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'माता-पिता, पुत्र' सभी का स्वास्थ्य

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **एषाम्**=इनके **पाशान्**=रोग के फन्दों को **उन्मुञ्च**=खोल दीजिए। **त्रयः**=तीनों—'माता-पिता, पुत्र' **येभिः त्रिभिः**=जिन तीन ग्राही पाशों से (gout, rheumatism, arthritis) **उत्सिताः**=बद्ध **आसन्**=हैं। प्रभु इन तीनों पाशों को खोलने का अनुग्रह करें। २. हे **प्रजानन्**=समझदार गृहस्थ! **सः**=वह तू **ग्राह्याः पाशान्**=ग्राही के पाशों को **विचृत**=खोल दे। उचित औषध-प्रयोग से व सूर्यादि देवों के सम्पर्क में रहने से तू इन पाशों में न जकड़ा जाए। तू **पितापुत्रौ**=पिता व पुत्र को तथा **मातरम्**=माता को—इन **सर्वान्**=सबको **मुञ्च**=इस ग्राही के फन्दे से छुड़ा।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से घर में माता-पिता व पुत्र सभी ग्राही आदि रोगों के पाशों से मुक्त हों, तभी घर स्वर्ग बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घर के दो महान् कष्ट

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ ३॥

१. **परिवित्तः**=विवाहित छोटे भाई का अविवाहित बड़ा भाई **येभिः पाशैः**=जिन ग्राही आदि रोगों के फन्दों से **विबद्धः**=बँधा हुआ, **अङ्गे-अङ्गे अर्पितः**=(आर्पयितृ=one who injures or hurts) अङ्ग-अङ्ग में पीड़ित है, **च**=और **उत्सितः**=प्रबलरूप से जकड़ा हुआ है, **ते**=वे सब पाश **विमुच्यन्ताम्**=छूट जाएँ। **विमुचः**=इन पाशों से छुड़ानेवाली कितनी ही औषध **हि**=निश्चय से **सन्ति**=हैं। बड़े का स्वस्थ होना परिवार के हित के दृष्टिकोण से नितान्त आवश्यक है। २. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **भ्रूणघ्नि**=जिनके सन्तान गर्भ में ही नष्ट हो जाते हैं, उस स्त्री में **दुरितानि मृक्ष्व**=दुर्गति के कारणभूत कष्टों को दूर कीजिए। पूषा प्रभु की कृपा से सन्तान का गर्भ में ठीक से पोषण हो और माता स्वस्थ सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—परिवार में आनेवाले दो बड़े भारी कष्ट हैं—एक, अविवाहित बड़े भाई का ग्राही आदि रोग से पीड़ित हो जाना। दूसरे, पुत्रवधू का गर्भ बीच में ही गिर जाना। प्रभु इन दोनों ही कष्टों को दूर करने का अनुग्रह करें।

११३. [त्र्योदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्रित में पाप का शोधन

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मुष्ये ष्ठ ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ १॥

१. **त्रिते**=(त्रीन् लोकान् तनोति) त्रिलोकी का विस्तार करनेवाले प्रभु में—प्रभु की उपासना

में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **एतत् एनः**=इस पाप को **अमृजत**=शुद्ध कर डालते हैं, प्रभु की उपासना से पाप को अपने से दूर कर देते हैं। **त्रितः**=त्रिलोकी का विस्तारक प्रभु **मनुष्येषु**=मनुष्यों में स्थित **एनत्**=इस पाप को **ममृजे**=दूर कर देता है—प्रभु पाप का सफ़ाया कर देते हैं। २. **ततः**=तब **यदि**=यदि **त्वा**=तुझे **ग्राही**=जकड़ लेनेवाला कोई रोग **आनशे**=व्याप्त कर लेता है तो **देवाः**=ज्ञानी पुरुष तथा सूर्य-चन्द्र आदि देव **ते ताम्**=तेरी उस व्याधि को **ब्रह्मणा नाशयन्तु**=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर डालें।

भावार्थ—प्रभु उपासना में चलने से मनुष्य पापों से बचेगा, तब रोग भी उसे पीड़ित नहीं करेंगे। सहसा कोई रोग आ भी जाए तो ज्ञानी पुरुष ज्ञान के द्वारा उस रोग को नष्ट करने में यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पाप का विनाश

मरीचीर्धूमान्प्र विशानु पाप्मन्नुदारान्गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान्वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ २॥

१. हे **पाप्मन्**=पाप! तू **मरीचीः**=सूर्य-किरणों में **अनुप्रविश**=प्रविष्ट हो—उन किरणों के सन्ताप से तू नष्ट हो जा, **धूमान्**=धुएँ में प्रविष्ट हो—धूम की भाँति कम्पित होकर दूर चला जा, **उदारान्**=(उत् ऋ गतौ) ऊपर गति करनेवाले उन मेघों में **गच्छ**=चला जा। **उत वा**=अथवा **नीहारान्**=कोहरों को प्राप्त हो, कोहरे में विलीन होकर तू अदृष्ट हो जा। २. **नदीनाम्**=नदियों के **तान्**=उन **फेनान् अनु**=फेनों (झागों) के पीछे **विनश्य**=तू नष्ट हो जा, अर्थात् हमसे तू दूर चला जा हमारा तुझसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे। ३. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **भ्रूणघ्नि**=गर्भ में ही जिसके सन्तान विनष्ट हो जाते हैं, उस स्त्री में **दुरितानि मृक्ष्व**=दुर्गति के कारणभूत पापों को आप नष्ट कर डालिए। किन्हीं पापों से जनित शरीर-विकारों को दूर करके आप इसे उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला बनाइए।

भावार्थ—पाप हमें छोड़कर कहीं दूर प्रदेश में चला जाए। स्त्री पाप-जनित दोष से रहित होकर उत्तम सन्तान को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

मनुष्यैनसानि

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ ३॥

१. **मनुष्यैनसानि**=मनुष्यों में आजानेवाले पाप **द्वादशधा**=बारह प्रकार के—पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में **निहितम्**=स्थापित हुए हैं। हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि से ही पाप कर बैठते हैं—'**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते**'। ये सब पाप **त्रितस्य**='ज्ञान, कर्म व उपासना' का विस्तार करने से **अपमृष्टम्**=धुल जाते हैं। (त्रीन् तनोति) 'काम, क्रोध व लोभ'—इन तीनों को तैर जानेवालों के ये पाप नष्ट हो जाते हैं (त्रीन् तरति)। २. हे मनुष्य! **यदि**=यदि तुझमें **ग्राहिः**=गठिया आदि रोग **आनशे**=व्याप्त होते हैं तो **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते**=तेरे **ताम्**=उस ग्राहीरूप रोग को **ब्रह्मणा नाशयन्तु**=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर डालें। ज्ञान से पापों का परिमार्जन (सफ़ाया) होता है और तब पापमूलक सब रोग भी विनष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन व बुद्धि से हो जानेवाले पापों को 'ज्ञान, कर्म

व उपासना' में लगकर नष्ट करनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा ग्राही आदि रोग दूर हो जाएँ।

विशेष—पूर्ण नीरोग, निष्पाप व ज्ञानी बनकर यह 'ब्रह्मा' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है।

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतस्य ऋतेन

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=माता, पिता, आचार्य आदि देवो! **यत् देवहेडनम्**=देवों के निरादररूप जिस पाप को **देवासः**=(देवासः देवनशीला इन्द्रियपरवशाः सन्तः—सा०) व्यर्थ की क्रीड़ा में फँसे हुए इन्द्रियों के परवश **वयम्**=हम लोग **चकृम**=कर बैठते हैं। इन्द्रिय परवशता में पाप हो ही जाता है, उस समय देवों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को हम नहीं कर पाते। २. हे **आदित्याः**=अदिति के पुत्रो! स्वस्थ ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=आप **तस्मात्**=उस पाप से **ऋतस्य ऋतेन**=यज्ञ-सम्बन्धी सत्य के द्वारा (ऋतम्=यज्ञ, सत्य) **न मुञ्चत**=हमें छुड़ाओ। हम यज्ञ-सम्बन्धी सत्य कर्मों को करते हुए 'देवहेडन' की वृत्ति से मुक्त हों।

भावार्थ—इन्द्रिय परवशता से मनुष्य पाप कर बैठता है। स्वस्थ ज्ञानी पुरुष यज्ञ-सम्बन्धी सत्य-कर्मों में प्रवृत्त करके मनुष्यों को उस पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञवाहसः

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः। यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

१. हे **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य व आदरणीय **आदित्याः**=पूर्ण स्वस्थ, ज्ञानी पुरुषो! आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **ऋतस्य ऋतेन**=यज्ञ-सम्बन्धी सत्यकर्मों के द्वारा **मुञ्चत**=पाप से मुक्त करो। आपकी संगति व प्रेरणा से हम भी यज्ञशील बनते हुए पापों से मुक्त रहें। २. हे **यज्ञवाहसः**=यज्ञों को वहन करनेवाले देवो! हम **यज्ञम्**=यज्ञ **शिक्षन्तः**=करना चाहते हुए भी **यत्**=जिस पाप के कारण से न **उपशेकिम**=करने में समर्थ नहीं होते, उस पाप से हमें छुड़ाइए। आपकी प्रेरणा व उदाहरण से हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हुए अशुभवृत्तियों से बचे रहें।

भावार्थ—आदित्य विद्वान् हमें यज्ञ-सम्बन्धी सत्य-कर्मों के द्वारा पाप से छुड़ाएँ। इस पाप के कारण ही हम चाहते हुए भी यज्ञ नहीं कर पाते।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेदस्वता स्रुचा

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

१. प्रतिदिन काम में आनेवाला चम्मच चिकनाईवाला हो जाता है। इस चम्मच को यहाँ 'मेदस्वान्'—मेदसवाला कहा है। **मेदस्वता**=इस चिकनाईवाले **स्रुचा**=चम्मच में **आज्यानि**=घृतों को **जुह्वतः**=करते हुए **यजमानाः**=यज्ञशील, **अकामाः**=लौकिक फलों की कामना न करनेवाले—कर्त्तव्य-बुद्धि से यज्ञों को करनेवाले हे **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब मनुष्यो! हम भी **वः**=आपके हैं। हमें भी तो आपने अपनी ही भाँति यज्ञशील बनाना था। हम **शिक्षन्तः**=यज्ञ करना चाहते हुए भी, न जाने किस अशुभ प्रभाव के कारण न **उपशेकिम**=यज्ञों को करने में समर्थ नहीं

हो पाते। आप उस वृत्ति से हमें बचाइए और यज्ञ में प्रवृत्त कीजिए।

भावार्थ—देववृत्तिवाले पुरुषों की भाँति हम भी यज्ञशील बनें। सदा यज्ञ करने से हमारे चम्मच घृत की चिकनाईवाले हो जाएँ।

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जाने व अनजाने हो जानेवाले पाप

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः॥ १॥

१. **यत्**=जिस पाप-निमित्त को **विद्वांसः**=जानते हुए और **यत्**=जिस पापनिमित्त को **अविद्वांसः**=न जानते हुए, अर्थात् ज्ञान से वा अज्ञान से **वयम्**=हम **एनांसि**=जिन भी पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं, हे **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुषो! **यूयम्**=आप **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **नः**=हमें **तस्मात् मुञ्चत**=उस पाप से छुड़ाइए।

भावार्थ—देवों से उचित प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम अशुभ कर्मों से बचें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एनस्यः

यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽ करम्। भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥ २॥

१. (एनः पापं प्रियम् अस्य, एनसि साधुर्वा) **एनस्यः**=अज्ञानवश पाप की प्रवृत्तिवाला मैं **यदि जाग्रत्**=यदि जागता हुआ, **यदि स्वपन्**=यदि सोता हुआ **एनः अकरम्**=पाप कर बैठता हूँ तो **तस्मात्**=उस पाप से **मा**=मुझे **भूतं भव्यं च**=इहलोक और परलोक (अयं वै लोको भूतं, असौ भविष्यत्—तै० ब्रा० ३.८.१८.६) इसप्रकार **मुञ्चताम्**=छुड़ाएँ **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादबन्धनार्थ द्रुम से किसी पशु को छुड़ाते हैं। २. इहलोक व परलोक में प्राप्त होनेवाले पाप के अशुभ परिणाम को सोचता हुआ मैं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—पापवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर सोते-जागते पाप होने लगते हैं। मैं इन पापों के इहलोक और परलोक में होनेवाले अशुभ परिणामों को सोचूँ और पापवृत्ति से बचूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्रुपदादिव मुमुचानः

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥ ३॥

१. **विश्वे**=सब देव **मा**=मुझे **एनसः**=पाप से इसप्रकार **शुम्भन्तु**=शुद्ध करें **इव**=जैसेकि कोई **द्रुपदात्**=काष्ठमय पादबन्धन से **मुमुचानः**=छूटता है। मैं पाप से इसीप्रकार छूट जाऊँ **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेदयुक्त पुरुष **स्नात्वा**=स्नान करके **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। **इव**=जैसे **पवित्रेण**=पवन-साधन वस्त्र आदि से **पूतम्**=शुद्ध किया हुआ **आज्यम्**=घृत शुद्ध हो जाता है; इसीप्रकार सब देव मुझे पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम पाप से इसप्रकार छूट जाएँ जैसेकि एक पशु खूँटे से, जैसेकि स्विन्न पुरुष स्नान द्वारा स्वेदमल से तथा जैसे छाना हुआ घृत मल से पृथक् हो जाता है।

विशेष—पापों का संहार करनेवाला यह पुरुष 'जाटिकायन' (जट संघाते) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**विवस्वान्**॥ छन्दः—**जगती**॥

'यज्ञिय मधुमत्' अन्न

यद्यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥ १॥

१. **कार्षीवणाः**=कृषिकर्म का सेवन करनेवाले **अन्नविदः न**=अन्न प्राप्त करानेवालों के समान **विद्यया**=कृषिविद्या के अनुसार **निखनन्तः**=भूमि को खोदते हुए, अर्थात् हल आदि चलाकर भूमि में बीजों को बोते हुए **अग्रे**=सर्वप्रथम **यत् यामं चक्रुः**=जिस नियम को कर देते हैं, **तत्**=उस नियमित अंश को निर्धारित कर के रूप में दिये जानेवाले भाग को **वैवस्वते राजनि**=प्रजा में ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले राजा में **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। २. **अथ**=अब—कर के रूप में निधारित अंश को दे देने पर **नः**=हमारे लिए **अन्नम्**=यह अन्न **यज्ञियम्**=संगतिकरण योग्य व पवित्र तथा **मधुमत्**=प्रशस्त माधुर्यवाला **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक कृषिकार्य करते हुए राष्ट्र में अन्न की कमी न होने दें। राजा को कर के रूप में उचित अन्नभाग प्राप्त कराके अविशष्ट यज्ञिय, मधुमत् अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**विवस्वान्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितृयज्ञावशिष्ट अन्न का सेवन

वैवस्वतः कृणवद्भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति।
मातुर्यदेनं इषितं न आगन्यद्वा पितापराद्धो जिहीडे॥ २॥

१. हमारे द्वारा उत्पन्न किये गये अन्न में **वैवस्वतः**=ज्ञान-किरणों को फैलानेवाला राजा **भागधेयम्**=भाग को **कृणवत्**=करे, अर्थात् राजा अपने कर-भाग को ग्रहण करे। राजा तो ग्रहण करे ही, राजा के अतिरिक्त हम अपने मान्य व आश्रित व्यक्तियों के लिए भी अन्न-भाग देनेवाले हों। विशेषकर माता-पिता को अन्न-भाग देकर ही बचे हुए को खाएँ। यही पितृयज्ञ कहलाता है। इस पितृयज्ञ को करनेवाला व्यक्ति गतमन्त्र के अनुसार (यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्) माधुर्योपेत अन्न का सेवन करता है। यह **मधुभागः**=माधुर्योपेत अन्न का सेवन करनेवाला अपने जीवन को **मधुना संसृजाति**=माधुर्य से संसृष्ट कर लेता है। २. इसके विपरीत, अर्थात् पितृयज्ञ के न करने पर **मातृः यत् एनः**=माता के विषय में किया गया जो पाप है, वह **इषितम्**=प्रेरित हुआ हुआ **नः आगन्**=हमें प्राप्त होता है। **वा**=अथवा **यत्**=जब यह **पिता अपराद्धः**=पिता हमसे अनादृत होता है—हम पिता को आदरपूर्वक भोजन नहीं कराते तब वह **जिहीडे**=हमारे प्रति क्रोधवाला होता है। हमें माता-पिता के क्रोध का भाजन बनना पड़ता है, इनका अभिशाप हमें लगता है।

भावार्थ—हम राजा के लिए तो उत्पन्न अन्न का भाग दें ही तथा सदा माता-पिता को खिलाकर ही पितृयज्ञ से अवशिष्ट अन्न का ही सेवन करें।

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**विवस्वान्**॥ छन्दः—**जगती**॥

अतिथियज्ञावशिष्ट अन्न का सेवन

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान्पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥ ३॥

१. **यदि**=यदि **इदम्**=यह **मातुः**=माता से **यदि वा**=अथवा यदि **पितुः**=पिता से **नः**=हमें

एनः आगन्=पाप प्राप्त हुआ है, अर्थात् उनका उचित आदर न करने से हमें दोष लगा है। **भ्रातुः**=भ्राता से **परि**=अन्य परिजनों से **पुत्रात्**=पुत्र से तथा **चेतसः**=ज्ञान देनेवाले आचार्य से (चेतयति) हमें पाप प्राप्त हुआ है, अर्थात् इन्हें अन्नभाग न देने से जो दोष हमें लगा है, वह सब अन्न का भाग करनेवाले हमसे दूर हो। २. **यावन्तः**=जितने भी **पितरः**=पालक लोग—हमारे बड़े **अस्मान्**=हमें **सचन्ते**=प्राप्त होते हैं, **तेषां सर्वेषाम्**=उन सबका **मन्युः**=क्रोध **शिवः अस्तु**=शान्त हो (शो तनूकरणे)। हम उनका अन्न आदि द्वारा उचित आदर करें और कभी भी उनके क्रोध के पात्र न हों।

भावार्थ—हम माता-पिता, भाई, पुत्र व आचार्य आदि को खिलाकर बचे हुए को ही खाएँ। अतिथियज्ञ को भी महत्त्व दें। यह यज्ञशेष सेवन हमारे लिए अमृत-सेवन होगा।

विशेष—यज्ञशेष-अमृत का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति सब बुराइयों को समाप्त करके 'कौशिक' बनता है (कु+शो तनूकरणे—बुराई को क्षीण करनेवाला)। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ऋण' उतारना व 'कर' देना

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान्॥ १॥

१. **अपमित्यम्**=(अपमातव्यं, अपाकर्त्तव्यम्) अपाकर्त्तव्य—फिर लौटाने योग्य जो धनादि ऋणरूप में उत्तमर्ण से लिया है, परन्तु **अप्रतीत्तम्**=फिर उसे लौटाया नहीं है, ऐसा **यत्**=जो ऋण मैं **अस्मि**=(असामि-अस-ग्रहणे) ग्रहण करता हूँ और **यमस्य**=उस नियामक राजा के **येन बलिना**=(भागधेयः करो बलिः) जिस देय कर से **चरामि**=स्वयं अपना भोजन करता हूँ—कर न देकर खा लेता हूँ, हे **अग्ने**=प्रभो! मैं आपके अनुग्रह से **इदम्**=अब **अनृणः**=उस ऋण से ऋणरहित **भवामि**=होता हूँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप उन **सर्वान्**=सब **पाशान्**=ऋण के कारण होनेवाले पाशों को—बन्धनों को **विचृतम्**=काटना **वेत्थ**=जानते हो। आप मुझे ऋण से अनृण होने की प्रेरणा व क्षमता देते हुए ऋणरहित करते हो।

भावार्थ—हम उत्तमर्ण से लिये गये ऋण को चुकाने का पूरा ध्यान रक्खें तथा राजा के लिए देय कर अवश्य दें।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीवनकाल में ही ऋण चुकाना

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं[1] यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ २॥

१. **इह एव सन्तः**=इस लोक में होते हुए ही हम **एनत् प्रति दद्मः**=इस ऋण को उत्तमर्ण के लिए प्रत्यर्पित कर देते हैं। **जीवाः**=जीते हुए ही हम—अपने जीवनकाल में ही **जीवेभ्यः**=जीवित उत्तमर्णों के लिए देह त्यागने से पहले ही **एनत् निहरामः**=इस ऋण को नियम से चुका देते हैं। २. **धान्यम्**=व्रीहि, यवादि को उत्तमर्ण से **अपमित्य**=उधार लेकर **यत् अहं जघास**=जो मैंने खाया है, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इदम्**=अब (इदानीन् तत्=तस्मात्) उस परकीय धान्य-भक्षण से **अनृणः**=ऋणरहित **भवामि**=होता हूँ। ऋण चुकाने के कारण नरकपात से मैं बच जाता हूँ।

भावार्थ—हम लिये हुए ऋण को जीवनकाल में ही चुकाने का प्रयत्न करें। ऋण न चुकाना नरक-पात का कारण बनता है।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीनों लोकों में अनृण

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥ ३॥

१. हम **अस्मिन्**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में—ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वाध्याय में तत्पर होते हुए **अनृणाः**=ऋषिऋण से अनृण हों। इसके पश्चात् अगले **परस्मिन्**=उत्कृष्ट गृहस्थाश्रम में सन्तानों का उत्तमता से पालन करते हुए **अनृणाः**=पितृऋण से अनृण होने के लिए यत्नशील हों, फिर **तृतीये लोके**=वानप्रस्थरूप तृतीय स्थान में भी **अनृणाः स्याम**=यज्ञादि उत्तम कर्म करते हुए देवऋण से मुक्त हों। २. **ये देवयानाः**=जो देवों के मार्ग हैं **च**=और जो **पितृयाणाः लोकाः**=पितृयाण लोक हैं—जिन मार्गों से रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोग चलते हैं, उन **सर्वान्**=सब **पथः**=मार्गों को **अनृणाः आक्षियेम**=हम ऋणरहित होकर ही आक्रान्त करें।

भावार्थ—हम सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में ऋषिऋण से अनृण होने के लिए यत्नशील हों। गृहस्थ में सन्तान-पालन द्वारा पितृऋण को चुकाएँ और वानप्रस्थ में यज्ञों के द्वारा देवऋण को उतार दें। अब अनृण होकर 'देवयान व पितृयाण' मार्गों का आक्रमण करें।

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'उग्रंपश्ये उग्रजितौ' अप्सरसौ

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः॥ १॥

१. **यत्**=जो **हस्ताभ्याम्**=(इन्द्रियाणामुपलक्षणमेतत्) हाथ-पाँव आदि इन्द्रियों से **किल्बिषाणि**=पाप **चकृम**=हम कर बैठते हैं, **अक्षाणाम्**=इन्द्रियों के **गत्नुम्**=गन्तव्य शब्द-स्पर्शादि विषयों को **उपलिप्समानाः**=प्राप्त करने की इच्छा करते हुए जो ऋण आदि ले-बैठे हैं, हे **उग्रंपश्ये**=(High, noble) उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियो! तथा **उग्रजितौ**=उत्कृष्ट कर्मों का विजय करानेवाली कर्मेन्द्रियो! **अप्सरसौ**=अपने-अपने कार्यों में विचरती हुई आप दोनों **अद्य**=अब **नः**=हमारे **तत्**=उपर्युक्त पाप को व **ऋणम्**=ऋण को **अनुदत्ताम्**=आनुकूल्य से उत्तमर्णों के लिए दिला दो।

भावार्थ—विषयों की ओर आकृष्ट हुई इन्द्रियों से हम पाप कर बैठते हैं, तभी हम ऋण आदि के बोझ से भी दब जाते हैं। प्रभुकृपा से हमारी ज्ञान व कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में उचितरूप से वर्त्तती हुई हमें इस योग्य बनाएँ कि हम लिये हुए ऋण को उत्तमर्णों को लौटाकर शुभ मनवाले ही बनें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अस्मान् अधिरज्जुः न आयत्

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेत्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ २॥

१. हे **उग्रंपश्ये**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियो! हे **राष्ट्रभृत्**=इस शरीर-राष्ट्र का भरण करनेवाली कर्मेन्द्रियो! जो हमारे द्वारा किये गये **किल्बिषाणि**=पाप हैं, **यत्**=और जो **अक्षवृत्तम्**=इन्द्रियों से पाप निष्पन्न हो गया है, **नः**=हमारे **एतत्**=इस ऋण ले-लेने आदि सब पापों को **अनुदत्तम्**=आनुकूल्येण निवारित करो। ऋणादि को लौटाकर आगे से हम इस मार्ग पर न जाने का निश्चय करें। २. **ऋणात्**=(भावप्रधानो निर्देशः—ऋणित्वात्) ऋणी होने के कारण **नः**=हमें **यमस्य लोके**=पुण्य-पापानुसार दण्ड देनेवाले सर्वनियन्ता प्रभु के इस लोक में **ऋणम् एर्त्समानः**=ऋण को सदा बढ़ाने की इच्छा करता हुआ यह उत्तमर्ण (ऋध+सन्) **अधिरज्जुः**=हमारे बन्धन के लिए पाशहस्त होकर न **आयत्**=प्राप्त न हो। हम इसके ऋण को न बढ़ने दें और पिछले ऋण को लौटाकर पाप-निवृत्त हो जाएँ।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय-प्रवण होने पर मनुष्य ऋण आदि लेने को बाध्य होता है। उन्हें न चुकाने पर बन्धन में पड़ता है। प्रभुकृपा से हम इस मार्ग से दूर रहें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनिरादर

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒यामुपै॑मि॒ यं या॒चमानो॒ अ॒भ्यैमि॑ देवाः।
ते वाचं॑ वादिषुर्मो॒त्तरां॒ मद्देव॑पत्नी॒ अप्स॑रसा॒वधी॑तम्॥ ३॥

१. **यस्मै**=जिस उत्तमर्ण के लिए **ऋणम्**=मैं ऋण धारण करता हूँ, **यस्य जायाम् उपैमि**=जिसकी पत्नी को अनुनय-विनय के लिए मैं प्राप्त होता हूँ—ऋण के लिए खुशामद-सी करता हूँ। अथवा **यम्**=जिस उत्तमर्ण को **याचमानः**=इष्ट धन के लिए प्रार्थना करता हुआ हे **देवाः**=देवो! **अभि आ एमि**=मैं सम्मुख प्राप्त होता हूँ, **ते**=वे **उत्तरां वाचम् मा वादिषुः**=उलटी—प्रतिकूल वाणी को न बोलें। मैं कभी विषयासक्त होकर ऋण लौटाने में असमर्थ होकर उत्तमर्णों के द्वारा किये जानेवाले निरादर का पात्र न होऊँ। २. हे **देवपत्नी**=आत्मा की पत्नीरूप ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप **अप्सरसौ**=अप्सराओ (कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियो)! आप **मत् अधीतम्**=मेरे इस उपर्युक्त विज्ञान को अच्छी प्रकार समझ लो—चित्त में धारण कर लो।

भावार्थ—विषयासक्ति हमें कभी ऋणपंक में न डुबा दे। हम ऋण लौटाने की अक्षमतावाले होकर कभी निरादर के पात्र न हो जाएँ।

११९. [एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऋण न लेना

यददी॒व्यन्नृ॒णमहं कृ॑णोम्यदा॑स्यन्नग्न॒ उ॒त सं॑गृ॒णामि॑।
वै॒श्वा॒न॒रो नो॑ अधि॒पा व॑सि॒ष्ठ॒ उदि॒न्नया॑ति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम्॥ १॥

१. **यत्**=जो **अदीव्यन्**=जीवकोपार्जन के लिए व्यवहार (कार्य) न करता हुआ **अहम्**=मैं **ऋणं कृणोमि**=अपने ऊपर ऋण कर लेता हूँ। काम न करने पर खाने के लिए ऋण तो लेना ही पड़ता है, परन्तु यह ठीक नहीं। चाहिए तो यही कि पुरुषार्थ से ही धनार्जन किया जाए, किन्तु ऋण लेकर हे **अग्ने**=परमात्मन्! **उत**=यदि मैं **अदास्यन्**=उसे न लौटाता हुआ **संगृणामि**=केवल लौटाने की प्रतिज्ञा ही करता रहता हूँ तो **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों को हित करनेवाला **अधिपा**=अधिष्ठातृरूपेण पालन करनेवाला **वसिष्ठः**=सबको बसानेवाला वह प्रभु **नः**=हमें **इत्**=निश्चय से **उत् नयाति**=इन अशुभवृत्तियों से बाहर (out) ले-चलता है और **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के

प्रकाश को प्राप्त कराता है। २. 'पुरुषार्थ न करके ऋणी हो जाना' प्रथम पाप है और उस ऋण को न उतारना दूसरा। प्रभु हमें इन पापों से ऊपर उठाएँ। हमें पुण्य का प्रकाश प्राप्त हो।

भावार्थ—हम पुरुषार्थ से धनार्जन करते हुए अपने पोषण की व्यवस्था करें। कभी ऋण ले-भी लें तो उसे विश्वासपात्रतापूर्वक लौटानेवाले बनें। प्रभुकृपा से हम पुण्य के मार्ग का ही आक्रमण करें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानरुचिता

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।
स एतान्पाशान्विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम॥ २॥

१. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु के चरणों में **प्रतिवेदयामि**=निवेदन करता हूँ कि **यदि ऋणम्**=यदि मैं अकर्मण्यतावश ऋण लेने के लिए बाधित होता हूँ तथा **देवतासु संगरः**=देवताओं के विषय में प्रतिज्ञा ही करता हूँ—उनके प्रति कर्त्तव्यों का ठीक से पालन नहीं करता तो **सः**=वह वैश्वानर प्रभु ही **एतान् सर्वान् पाशान्**=लौकिक व वैदिक ऋणरूप इन सब पाशों को **विचृतं वेद**=विश्लिष्ट करना जानते हैं—प्रभु ही मुझे इन पापों से मुक्त कर सकते हैं। २. प्रभुकृपा से **अथ**=अब लौकिक व वैदिक ऋण से अनृण होकर हम **पक्वेन सह**=जीवन को परिपक्व करनेवाले ज्ञान के साथ **संभवेम**=सदा निवास करें। हम अपने को व्यर्थ की विषय-वासनाओं में व भोगविलास के जीवन में न डलकर ज्ञान की रुचिवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-चरणों में मनुष्य की प्रार्थना यही हो कि हम अपने को लौकिक व वैदिक कर्मों के बन्धन में न डाल बैठें। सदा ज्ञान की रुचिवाले होकर ऋणों को ठीक से चुकाते रहें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण व पाप-शोधन

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत्संगरमभिधावाम्याशाम्।
अनाजानन्मनसा याचमानो यत्तत्रैनो अप तत्सुवामि॥ ३॥

१. **पविता**=हमारे जीवनों को शुद्ध बनानेवाला **वैश्वानरः**=सबका हित करनेवाला प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र जीवनवाला बनाए। **अनाजानन्**=हिताहित विभाग को न जानता हुआ अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को ठीक से न समझता हुआ **यत्**=जो मैं **संगरम् अभिधावामि**=ऋणापकरण-विषयक प्रतिज्ञा की ओर ही दौड़ता हूँ। 'उस दिन लौटा दूँगा', ऐसी प्रतिज्ञाएँ ही करता रहता हूँ, लौटात नहीं। इसप्रकार **आशाम्**=(धावामि) मैं उन उत्तमर्णों की आशा पर पानी फेर देता हूँ (धाव् शुद्धौ), उनकी आशाओं का सफ़ाया ही कर डालता हूँ। मैं **मनसा**=मन से **याचमानः**=ऐहिक सुखों की ही याचना करता रहता हूँ। ऐहिक सुखों में फँसने के कारण ही तो ऋणी बनता हूँ और ऋणशोधन में समर्थ नहीं होता। २. हे प्रभो! आपसे शक्ति पाकर **तत्र**=उस वैषयिक सुखासक्ति में और ऋण का आदान करने में **यत्**=जो **एनः**=पाप है **तत्**=उस पाप को **अपसुवामि**=मैं अपने से दूर प्रेरित करता हूँ। हे प्रभो! मेरे इस पापमय जीवन को आपको ही शुद्ध करना है।

भावार्थ—'ऋण न चुकाकर यूँ ही प्रतिज्ञा करते रहना, उत्तमर्ण की आशा पर पानी फेर देना, ऐहिक सुखों में फँसे रहना'—यह सब पाप का मार्ग है। प्रभु-प्रेरणा से मैं इस मार्ग में

न जाकर अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ।

१२०. [विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अग्निहोत्र व उत्तम जीवन

यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम।
अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

१. **यत्**=जो **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **जिहिंसिम**=हम हिंसित करते हैं। इन्हें ठीक न रखने के द्वारा इनका हिंसन करते हैं, **वा**=तथा **यत्**=जो **मातरं पितरम्**=अपने माता-पिता को हिंसित करते हैं—उनका उचित आदर व ध्यान नहीं करते, **अयं गार्हपत्यः अग्निः**=यह हमारे घरों का रक्षक यज्ञ-अग्नि **नः**=हमें **तस्मात्**=उस पाप से दूर करके **उत् इत्**=इस पाप से बाहर (out) करके निश्चय से **सुकृतस्य लोकं नयाति**=पुण्य के लोकों में प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह अग्निहोत्र वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा, रोगकृमियों के विनाश के द्वारा तथा सौमनस्य प्राप्त कराने के द्वारा हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क को उत्तम बनाता है और हमें उत्तमवृत्ति का बनाकर माता-पिता का आदर करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

माता-पिता का आदर

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा मावं पत्सि लोकात्॥ २॥

१. **भूमिः**=यह पृथिवी **माता**=हमारी माता है, **अदितिः**=अदीना देवमाता—कभी क्षीण न होनेवाली सूर्यादि देवों की उपादानभूत यह प्रकृति **नः जनित्रम्**=हमारे शरीर को जन्म देनेवाली है, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक वृष्टि आदि के द्वारा भरण करने से **भ्राता**=भाई है। **द्यौः**=द्युलोक **नः पिताः**=हमारा पिता है। ये सब **अभिशस्त्या**=अभिशंसन से—मिथ्यापवादजनित पाप से **नः**=हमें बचाकर **शं भवाति**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हों। २. हे प्रभो! **जामिम् ऋत्वा**=रिश्तेदारों को प्राप्त करके—उनके सम्पर्क में आकर मैं **पित्र्यात् लोकात् मा अवपत्सि**=पिता से प्राप्त होनेवाले प्रकाश से कभी पृथक् न होऊँ, अर्थात् किन्हीं भी बन्धुओं की बातों में आकर पिता की अवज्ञा करनेवाला न बन जाऊँ।

भावार्थ—त्रिलोकी हमें मिथ्यापवादजनित पापों से बचाकर शान्ति प्राप्त करानेवाली हो। हम बन्धुवर्ग की बातों में आकर माता-पिता की अवज्ञा करनेवाले न बन जाएँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग-तुल्य गृह

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरहृताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ ३॥

१. **यत्र**=जिस गृह में **सुहार्दः**=शोभन हृदयोंवाले, **सुकृतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले लोग **स्वायाः तन्वः**=अपने शरीर के **रोगम्**=पापमूलभूत ज्वरादि को **विहाय**=छोड़कर **मदन्ति**=दुख से असम्भिन्न सुख के अनुभव में आनन्दित होते हैं, वही तो स्वर्ग है। वह गृहस्थ स्वर्ग है जहाँ

लोगों के हृदय पवित्र हैं, जहाँ लोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हुए हैं और जहाँ उनके शरीरों में रोग नहीं है। २. हमें **अङ्गैः अश्लोणाः**=अङ्गों से अविकृत होते हुए—कुष्ठ आदि रोगों से रहित **अह्रुताः**=अकुटिल गतिवाले व सरल स्वभाववाले होते हुए **तत्र स्वर्गे**=वहाँ स्वर्ग-तुल्य घर में **पितरौ**=माता-पिता को **च**=और **पुत्रान्**=पुत्रों को **पश्येम**=देखें। माता-पिता का भी ध्यान करें, उनके भोजन आदि की व्यवस्था में गड़बड़ न हो और पुत्रों के शिक्षण-दीक्षण में त्रुटि न रह जाए।

भावार्थ—स्वर्ग-तुल्य गृह वह है जहाँ (क) सबके हृदय पवित्र हैं, (ख) सब यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं, (ग) सबके शरीर नीरोग हैं, (घ) अङ्ग अविकृत हैं, (ङ) स्वभाव सरल व अकुटिल हैं, (च) माता-पिता का आदर है और (छ) सन्तानों का शिक्षण-दीक्षण ठीक है।

१२१. [एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

बन्धन-मोक्ष

विषाणा पाशान्वि ष्याध्यस्मद्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुःष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

१. हे प्रभो! **वि-षाणा**=(सन् संभक्तौ) विशिष्ट सम्भजन (उपासन) के द्वारा **पाशान्**=विषयवासनाओं के बन्धनों को **अस्मत्**=हमसे **अधिविष्य**=पृथक् कीजिए **ये**=जो **उत्तमाः**=उत्कृष्ट 'ज्ञानसङ्ग व सुखसङ्ग' रूप सात्त्विक बन्धन हैं, **अधमाः**=जो निकृष्ट 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' रूप तामस् बन्धन हैं, तथा **ये**=जो **वारुणाः**=हमें उत्तम कर्मों से रोककर तृष्णासङ्ग के कारण अन्याय से अर्थसंग्रहों में प्रवृत्त करते हैं, उन राजस् बन्धनों से भी हमें मुक्त कीजिए। २. उपासना करते हुए हम जब बन्धनों से मुक्त हों तब **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत **दुरितम्**=अशुभाचरणों को **निष्व**=पृथक् कीजिए (षू प्रेरणे)। **अथ**=अब-पाशविमोचन के पश्चात् **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोकम्**=प्रकाश को **गच्छेम**=प्राप्त हों—सदा पुण्य कर्मों को करते हुए प्रकाशमय लोक में रहनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' बन्धनों से ऊपर उठें, अशुभ स्वप्नों के कारणभूत दुराचरणों से दूर होकर पुण्य से प्राप्त प्रकाशमयलोक में निवास करें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गार्हपत्य अग्नि द्वारा सुकृत के लोक में

यद्दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद्भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा।
अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ २॥

१. **यत्**=जो तू **दारुणि**=(ore) इन सोना-चाँदी आदि धातुओं में **बध्यसे**=बद्ध हो जाता है—सोने व चाँदी के मोह में फँस जाता है **च**=और **यत्**=जो **रज्ज्वाम्**=बालों के गुम्फनविशेषों में (a lock of braided hair) आसक्त हो जाता है। एक युवति नाना प्रकार से बालों का गुम्फन करती हुई अपने को सुन्दर बनाने में आसक्त हो जाती है। **यत् भूम्यां बध्यसे**=जो तू भूमि में बाँधा जाता है, अधिकाधिक भूमि के स्वामित्व के लिए लालायित हो जाता है, **च**=और **यत्**=जो **वाचा**=वाणी से तू बद्ध होता है—बोलने का व्यसन लग जाता है—मौन रहना कठिन हो जाता है, **अयम्**=यह **गार्हपत्यः अग्निः**=गृहों का रक्षण करनेवाला यज्ञिय-अग्नि **तस्मात्**=उस सब

बन्धन से **नः**=हमें **इत्**=निश्चय से **उन्नयाति**=बाहर प्राप्त कराता है और **सुकृतस्य लोकम्**=हमें पुण्य के लोक में ले-चलता है।

भावार्थ—यज्ञिय वृत्ति होने पर हमारे 'सोने-चाँदी, बालों का सौन्दर्य, भूमि-संग्रह व बहुत बोलने' आदि के बन्धन विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विचृतौ नाम तारके

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम्॥ ३॥

१. हमारे जीवनों में **भगवती**=उत्तम सौजन्य को प्राप्त करानेवाली **विचृतौ नाम**=पाप-बन्धन को विच्छिन्न करनेवाली **तारके**=पराविद्या व अपराविद्यारूप ताराएँ **उदगाताम्**=उदित हों। ये तारे **इह**=इस जीवन में हमें **अमृतस्य प्रयच्छताम्**=अमृत प्रदान करें। अपारविद्या से हम अभ्युदय को प्राप्त करते हुए दरिद्रता व रोगादिरूप मृत्युओं से बचें तथा पराविद्या से हम निष्काम कर्म करते हुए जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ पाएँ—निःश्रेयस को प्राप्त करनेवाले हों। हमें **बद्धकमोचनं प्र एतु**=कुत्सित बन्धनों से मोक्ष प्राप्त हो। हम विषय-वासनाओं के बन्धन से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम पराविद्या व अपराविद्या के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क-गगन में उदित करते हुए बन्धनों से मुक्त हों और अमृतत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बालक की भाँति निर्दोष

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।
योन्याइव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय॥ ४॥

१. हे मनुष्य! तू **विजिहीष्व**=विशिष्टरूप से अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। **लोकं कृणु**=अपने जीवन को प्रकाशमय बना। **बद्धकम्**=कुत्सित विषयों में बद्ध इस मन को **बन्धात् मुञ्चासि**=तू बन्धन से मुक्त करता है। २. **योन्याः**=माता के गर्भाशय से **प्रच्युतः**=बाहर आये हुए **गर्भः इव**=गर्भस्थ बालक की भाँति **सर्वान् पथः**=सब मार्गों को **अनुक्षिय**=अनुकूलता से आक्रान्त कर। एक बालक की भाँति निर्दोषभाव (As innocent as a child) से मार्गों का आक्रमण कर।

भावार्थ—हम मन को विषयों से मुक्त करते हुए ज्ञान के प्रकाश में कर्त्तव्य-मार्गों पर चलें। उत्पन्न हुए-हुए बालक की भाँति हमारा जीवन निर्दोष हो।

विशेष—ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' बनता है। अगले दो सूक्त इसी के हैं।

१२२. [द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नियम से अग्निहोत्र करना

एतं भागं परि ददामि विद्वान्विश्वकर्मन्प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम॥ १॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=ब्रह्माण्ड के निर्माता प्रभो! आप ही **ऋतस्य प्रथमजाः**=सत्य वेदवाणी का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भाव करनेवाले हैं। **विद्वान्**=इस बात को जानता हुआ मैं **एतं भागं परिददामि**=इस अपने अर्जित धन के अंश को हविरूप से वायु आदि देवों के लिए देता हूँ। ये यज्ञ वेद के 'जरामर्य सत्र' हैं। इनसे तो जीवन में कभी छुटकारा होता ही नहीं। २. इसप्रकार **अस्माभिः दत्तम्**=हमारे द्वारा तो यह भाग दिया ही गया है और हमने देवऋण से अनृण होने का प्रयत्न किया है। अब **जरसः परस्तात्**=(देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तर्प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति) जरा के पश्चात्—दीर्घजीवन प्राप्त करके देहान्तर प्राप्त होने पर भी **अच्छिन्नं तुन्तम् अनु**=अविच्छिन्न पुत्र-पौत्रादिलक्षण सन्तान-तन्तु में अनुप्रविष्ट होकर (तायते कुलम् अनेनेति तन्तुः) **सन्तरेम**=यज्ञों द्वारा देवऋण को तैरनेवाले बनें, अर्थात् हमारे वंश में यह यज्ञ की परिपाटी बनी ही रहे।

भावार्थ—हम आजीवन अग्निहोत्र को अपनाते हैं। मृत्यु होने पर भी सन्तानों में अनुप्रविष्ट होकर इस देवऋण से अनृण होने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् हमारे वंश में यह यज्ञ अविच्छिन्नरूप में चलता ही है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

भूतयज्ञ

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥ २॥

१. **येषाम्**=जिनका **पित्र्यम्**=पिता से प्राप्त धन **आयनेन**=(आ+अय गतौ) आगम—वेदशास्त्र के अनुसार यज्ञों में **दत्तम्**=दिया गया है, ऐसे **एके**=विलक्षण **पुरुषं ततं तन्तुम् अनु**=विस्तृत पुत्र-पौत्रादिलक्षण सन्तान-तन्तु में प्रविष्ट होकर **तरन्ति**=इन ऋणों से अनृण हो ही जाते हैं। पिता से प्राप्त धन को विलास में खर्च न करके जो वेदोपदिष्ट यज्ञादि में विनियुक्त करते हैं, वे सन्तानों में अनुप्रविष्ट होकर भी इन ऋणों से तरने का ध्यान रखते हैं। २. **एके**=कई अबन्धु=(अबन्धवे) अनाथों के लिए **ददतः**=देते हुए और **प्रयच्छन्तः**=खूब ही देनेवाले होते हैं और इसप्रकार **चेत्**=यदि वे **दातुं शिक्षान्**=देने के लिए समर्थ होने की इच्छा करते हैं, अर्थात् यदि उनकी इन अनाथों के पालने की वृत्ति बनी रहती है तो उनका **सः स्वर्गः एव**=वह भूतयज्ञ स्वर्ग ही है, अर्थात् इस भूतयज्ञ को करने से उनका जीवन स्वर्ग का जीवन बना रहा है—न व्यसन आते हैं, न रोग। वे जीवन में अमर (नीरोग बने रहते हैं)।

भावार्थ—हम पिता से प्राप्त धनों को यज्ञों में ही विनियुक्त करें। यदि उसे विलास में व्यय करेंगे तो सन्तानों की वृत्ति भी विलासी ही बनेगी और यज्ञ विच्छिन्न हो जाएँगे। अनाथों के हित के लिए देते हुए और इस दान के लिए सदा सशक्त होने की इच्छा करते हुए हम स्वर्गोपम सुख को अनुभव करते हैं। ऐसे जीवन में न व्यसन होते हैं, न रोग। यही भूतयज्ञ है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अतिथियज्ञ व देवयज्ञ

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ३॥

१. हे **दम्पती**=पति-पत्नी! आप दोनों **अनुआरभेथाम्**=वेद के आदेश के अनुसार इन यज्ञों का प्रारम्भ करो, **अनुसंरभेथाम्**=आरम्भ करके इन यज्ञों में लगे रहो। इन यज्ञों को आरम्भ करना,

आरम्भ किये हुए यज्ञों का परित्याग सर्वथा अनुचित है। **एतं लोकम्**=यज्ञादि से प्राप्य इस स्वर्गलोक को **श्रद्दधानाः सचन्ते**=श्रद्धावाले—आस्तिक बुद्धिवाले लोग ही सेवन करते हैं, अतः इन यज्ञों में तुम्हारी श्रद्धा बनी ही रहे। आप दोनों (दम्पती) भी श्रद्धावाले बनो और **यत् वां पक्वम्**=आपका जो अन्न अतिथियज्ञ के लिए परिपक्व होता है तथा जो **अग्नौ परिविष्टम्**=हविरूप में अग्नि में प्रक्षिप्त होता है **तस्य**=उस देवयज्ञ और अतिथियज्ञ के **गुप्तये**=रक्षण के लिए **संश्रयेथाम्**=मिलकर उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले बनो। इन अतिथि व देवयज्ञों को करते हुए आप संसार के विषयों में बद्ध होने से बचे रहोगे और अजर व अमर बनकर स्वर्गोपम जीवन को प्राप्त करोगे।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी यज्ञों का प्रारम्भ करें। प्रारम्भ किये हुए यज्ञों का त्याग कभी न करें। अतिथि-यज्ञ व देवयज्ञ को सुरक्षित रखते हुए वे सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रभु-उपासना के साथ यज्ञमय जीवन

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात्तृतीये नाके सधमादं मदेम॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **मनसा**=मनन—विचार के साथ तथा **तपसा**=तप के साथ **सयोनिः**=समान स्थान में निवास करता हुआ **यन्तम्**=जीवन में निरन्तर चलते हुए **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत **यज्ञम् अनु**=यज्ञ के अनुसार **आरोहामि**=ऊपरले और ऊपरले लोक में आरोहण करता हूँ—**पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्**=मननशील व तपस्वी बनकर मनुष्य यज्ञों में प्रवृत्त होता है और उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है। ये यज्ञ उसकी वृद्धि—उन्नति का कारण बनते हैं। २. हे परमात्मन्! इसप्रकार यज्ञशील बनकर हम **उपहूताः**=आपकी पुकार करते हुए (उपहूतम् अस्य अस्ति इति उपहूतः) आपकी उपासना करते हुए **जरसः परस्तात्**=बुढ़ापे की समाप्ति पर **तृतीये नाके**=प्रकृति व जीवन के क्षेत्र से ऊपर उठकर परमात्मरूप तृतीय मोक्षलोक में (न अकं दुःखम् अस्मिन् इति) **सधमादं मदेम**=आपके साथ आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के साथ यज्ञमय जीवन मोक्ष का साधक है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

कामधुक् यज्ञ

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ ५॥

१. यज्ञों में ऋत्विजों का वरण करता हुआ यजमान कहता है कि **इमाः**=ये जल जिन्हें कि मैं आपके वरण के समय आपके हाथ धुलाता हुआ **ब्रह्मणां हस्तेषु**=इन चारों आर्षेय ब्राह्मण ऋत्विजों के हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग **प्रसादयामि**=प्रक्षालन के हेतु स्थापित करता हूँ, **शुद्धाः**=शुद्ध हैं, **पूताः**=पवित्र हैं, अतएव **योषितः**=(युष्यन्ते, युष सेवायाम्) सेवनीय हैं, **यज्ञियाः**=यज्ञ के योग्य हैं—पवित्र कर्म में उपयोग के योग्य हैं। २. **अहम्**=मैं **यत्कामः**=जिस कामनावाला होता हुआ **वः**=आपके हाथों में **इदम्**=इस जल को **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ और आपके द्वारा इस यज्ञ को पूर्ण करता हूँ, **सः**=वह **मरुत्वान् इन्द्रः**=प्रशस्त प्राणशक्ति को प्राप्त करानेवाला, सब शत्रुओं का विनाशक प्रभु **तत् मे ददातु**=उस कामना का मुझे देनेवाला

हो—मेरी उस इच्छा को पूर्ण करे।

भावार्थ—पवित्र होकर हम जिस कामना से यज्ञ करते हैं, हमारी उस कामना को प्रभु पूर्ण करते ही हैं।

१२३. [त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञरूप शेवधि

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्यो ∫ मन्॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले यज्ञशील लोगो! **एतम्**=इस यज्ञ को **वः परिददामि**=तुम्हें देता हूँ। उस यज्ञ को तुम्हारे लिए देता हूँ **तम्**=जिस यज्ञरूप **शेवधिम्**=कोश को **जातवेदाः**=यह यज्ञाग्नि (जातं वेदः—धनं यस्मात्) **आवहात्**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता है। यज्ञ एक कोश है, क्योंकि इसी से पर्जन्यों की उत्पत्ति होकर विविध अन्नों का उत्पादन होगा। २. यह **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **स्वस्ति अनु आगन्ता**=क्रमशः अधिकाधिक कल्याण को प्राप्त होगा। हे यज्ञशील पुरुषो! तुम **तम्**=उस मुझे (परमात्मा को) **परमे व्योमन् जानीत स्म**=इस परम आकाश में सर्वत्र व्याप्त जानो।

भावार्थ—यज्ञ एक शेवधि—कोश है। यज्ञशील पुरुष उत्तरोत्तर कल्याण को प्राप्त होता है। यह प्रभु को जाननेवाला बनता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों से कल्याण व प्रभु-प्राप्ति

जानीत स्मैनं परमे व्यो ∫ मन्देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ती ∫ ष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै॥ २॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले आप **एनम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन् जानीत स्म**=परम आकाश में सर्वत्र व्याप्त जानो, और **अत्र**=इस जीवन में भी **लोकं विद**=उत्तम प्रकाशमय जीवन को प्राप्त करो (जानो)। २. यह निश्चय से समझ लो कि **यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता**=यह यज्ञशील पुरुष अधिक-से-अधिक सुख को प्राप्त करेगा, अतः तुम **अस्मै**=इस कल्याण व प्रभु-प्राप्ति के लिए **इष्टापूर्तम्**=यज्ञों व कूप-निर्माण आदि लोकहित के कार्यों को **आविः कृणुत**=अपने जीवन में प्रादुर्भूत करो। ये पवित्र कर्म ही तुम्हारा कल्याण करेंगे—ये प्रभु-प्राप्ति का साधन बनेंगे।

भावार्थ—यज्ञों व लोकहित के कार्यों के द्वारा हम स्वर्ग को प्राप्त करें और प्रभु को भी जानें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**३ द्विपदासाम्न्यनुष्टुप्, ४ द्विपदाप्राजापत्या भुरिगनुष्टुप् (एकावसाना)** ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि॥ ३॥
स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम्॥ ४॥

१. **देवाः**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **पितरः**=ये रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग ही **देवाः**=देव हैं। यहाँ साहित्य की शैली का सौन्दर्य द्रष्टव्य

है। देव 'पितर' हैं, 'पितर' ही तो देव है। देवों का काम रक्षण है, दैत्यों का विध्वंस। मैं भी **यो** (या+उ) **अस्मि**=गतिशील बनता हूँ और **सः अस्मि** (षोऽन्तकर्मेणि) दुःखों का अन्त करनेवाला होता हूँ। २. **सः**=वह मैं **पचामि**=घर में भोजन का परिपाक करता हूँ तो पहले **सः ददामि**=वह में पितरों व अतिथियों के लिए देता हूँ और इसप्रकार **सः यजे**=वह मैं देकर-देवपूजन करके बचे हुए को ही (यज्ञशेष को ही खाता हूँ)। **सः**=वह मैं **दत्तात्**=इस देने की प्रक्रिया से **मा यूषम्**=कभी पृथक् न होऊँ। सदा यज्ञशील बना रहूँ। यहाँ मन्त्र में 'स पचामि' में पचामि परस्मैपद है—दूसरों के लिए ही पकाता हूँ, इसीप्रकार दूसरों के लिए देता हूँ, परन्तु 'स यजे' में यजे 'आत्मनेपद' है। यज्ञ अपने लिए करता हूँ। मैं बड़ों को खिलाता हूँ तो मेरे सन्तान भी इस पितृयज्ञ का अनुकरण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—देव सदा रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। मैं भी गतिशील बनकर पर-दुखों का हरण करनेवाला बनूँ। पकाऊँ, यज्ञ करूँ और यज्ञशेष ही खाऊँ।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नाके

नाके राजन्प्रति तिष्ठ तत्रैतत्प्रति तिष्ठतु।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव॥ ५॥

१. हे **राजन्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से दीप्त जीवनवाले साधक! **नाके प्रतितिष्ठ**=तू सुखमय लोक में प्रतिष्ठित हो। **तत्र**=वहाँ—सुखमय लोक में **एतत्**=तेरा यह यज्ञरूप श्रेष्ठ कर्म भी **प्रतितिष्ठतु**=प्रतिष्ठित हो। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **राजन्**=दीप्त जीवनवाले साधक! **नः पूर्तस्य विद्धि**=हमसे वेद द्वारा उपदिष्ट प्रजा के पालन व पूरणात्मक कर्मों को तू जान—तू पूर्तकर्मों को करनेवाला बन। हे **देव**=दिव्य गुणयुक्त प्रकाशमय जीवनवाले साधक! **सः**=वह तू **सुमना भव**=प्रशस्त मनवाला हो।

भावार्थ—यज्ञादि उत्तम कर्मों से सुखमय जीवनवाले बनकर हम इन यज्ञादि कर्मों में और अधिक प्रवृत्त हों। प्रभु से उपदिष्ट इष्ट व पूर्त कर्मों को करनेवाले बनें। सदा प्रसन्न व प्रशस्त मनवाले बनें।

विशेष—इन यज्ञादि कर्मों में स्थिरता से चलनेवाला 'अथर्वा' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१२४. [चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिव्या आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपां स्तोकः

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्य ऽपप्तद्रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥ १॥

१. साधक अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए कहता है कि **नु**=अब **माम्**=मुझे **दिवः**=उस प्रकाशमय **बृहतः**=महान् **अन्तरिक्षात्**=(अन्तराक्षि) सबके अन्दर निवास करनेवाले अन्तर्यामी प्रभु से **अपां स्तोकः**=ज्ञान-जल का लव (थोड़ा-सा) **रसेन**=आनन्द के साथ **अभ्यपप्तत्**=प्राप्त हुआ है। जब मनुष्य 'अथ अर्वाङ्' अन्तर्दृष्टिवाला बनता है तब उसे प्रकाशमय प्रभु से ज्ञान का अंश व रस (आनन्द) प्राप्त होता है। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **अहम्**=आपका प्रिय अथर्वा मैं आपकी कृपा से **इन्द्रियेण**=वीर्य से, **पयसा**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति से—आप्यायन से

छन्दोभिः=वेदवाणियों से **यज्ञैः**=यज्ञों से तथा **सुकृतां कृतेन**=पुण्यशील लोगों के पुण्य कर्मों से **सम्**=सङ्गत होऊँ।

भावार्थ—हम अथर्वा बनकर अन्तर्दृष्टि बनें, जिससे प्रभु के ज्ञान-जल के लव व रस को प्राप्त कर सकें। हम वीर्य, शक्ति के आप्यायन, वेदज्ञान, यज्ञ व पुण्य कर्मों से सङ्गत हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिव्या आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

फल-वायु-जल

यदि॑ वृ॒क्षाद॒भ्यप॑प॒त्फलं॒ तद्यद्यन्तरि॑क्षा॒त्स उ॑ वा॒युरे॒व।
यत्रास्पृ॑क्षत्त॒न्वो॒३॑ यच्च॒ वास॑स॒ आपो॑ नुदन्तु॒ निर्ऋ॑तिं परा॒चैः॥ २॥

१. अथर्वा प्रार्थना करता है कि **यदि वृक्षात् अभि अपप्तत्**=यदि वृक्षों से कोई वस्तु मेरी ओर गिरे, अर्थात् मुझे प्राप्त हो तो **तत् फलम्**=वह फल ही हो। मैं वृक्षों के फलों का सेवन करनेवाला बनूँ। **यदि अन्तरिक्षात् सः उ वायुः एव**=यदि अन्तरिक्ष से मुझे कोई वस्तु प्राप्त हो तो वह निश्चय से वायु ही हो। मैं अन्तरिक्ष की खुली वायु में निवास करनेवाला बनूँ। तङ्ग गलियों में जहाँ वायु का खुला प्रवेश नहीं, वहाँ मेरा निवास न हो। २. **यत्र**=जहाँ कहीं भी शरीर पर मल का **अस्पृक्षत्**=स्पर्श हो **च**=और **यत्**=जो वस्त्र पर मल लगे तो उस **निर्ऋतिम्**=मलरूप बुराई (Evil) को **आपः**=जल **पराचैः**=दूर ले-जाने की क्रियाओं द्वारा **तन्वः**=शरीर से और **वाससः**=वस्त्रों से **नुदन्तु**=परे धकेल दे।

भावार्थ—अथर्वा चाहता है कि १. वह वृक्षों के फलों का सेवन करे, २. अन्तरिक्ष की शुद्ध वायु में विचरे तथा ३.जलों द्वारा शरीर व वस्त्रों को शुद्ध रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिव्या आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'निर्ऋति व अराति' से दूर

अ॒भ्यञ्जनं॑ सु॒रभि॒ सा सम॑ृ॒द्धिर्हिर॑ण्यं॒ वर्च॒स्तदु॑ पू॒त्रिम॑मे॒व।
सर्वा॑ प॒वित्रा॒ वि॒तता॑ध्य॒स्मत्तन्मा ता॑रीन्निर्ऋ॑ति॒र्मो अरा॑तिः॥ ३॥

१. **अभ्यञ्जनम्**=आँखों में अञ्जन का प्रयोग और उससे नेत्र-मल को दूर करना, अर्थात् ज्ञानाञ्जन द्वारा अज्ञानतिमिर को दूर करना, **सुरभि**=सुगन्धित-(मधुर)-वाणी बोलना (सुरभिर्नो मुखा करत्प्र ण आयूँषि तारिषत्) **सा समृद्धिः**=वह सुपथ से कमाया धन, **हिरण्यम्**=वीर्य, **वर्चः**=रोगनिरोधक शक्ति **तत्**=वह सब **उ**=निश्चय से **पूत्रिमम् एव**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है। धन भी जीवन को पवित्र रखने का साधन बनता है। धन के अभाव में 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'—भूखा क्या पाप नहीं कर बैठता? २. **सर्वा पवित्रा**=पवित्र करने के सब साधन **अस्मत् अधि**=हमपर **विततता**=विस्तृत हुए-हुए हैं, **तत्**=इसलिए **मा**=मुझे **निर्ऋतिः मा तारीत्**=अनिष्टकारिणी पापदेवता (मलदेवता) मत अतिक्रान्त करे **उ**=और **अरातिः मा**=अदानवृत्ति मत अतिक्रान्त करनेवाली हो। पवित्रता के साधनों से आच्छादित मैं 'निर्ऋति व अराति' का शिकार न होऊँ—न दुर्गति—दुराचरणवाला बनूँ, न अदानवृत्तिवाला।

भावार्थ—ज्ञानाञ्जन-शलाका से अज्ञानतिमिर को दूर करना, 'मधुर शब्द, सुपथार्जित धन, वीर्य व रोग निरोधक शक्ति'—ये सब मेरे जीवन को पवित्र करें। पवित्रता के इन साधनों से आच्छादित हुआ-हुआ मैं दुराचरण व अदानवृत्ति से दूर रहूँ।

१२५. [पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीड्वङ्गः वीडयस्व

वनस्पते वीड्व ङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ १॥

१. अथर्वा अपने शरीर को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **वनस्पते**=वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से बने हुए देह! तू **हि**=निश्चय से **वीडु अङ्गः भूयाः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा मित्र हो, **प्रतरणः**=संसार-सागर को तैरनेवाला व **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=तू ज्ञानरश्मियों से सम्बद्ध है, **वीडयस्व**=तू पराक्रम कर **ते आस्थाता**=तुझ शरीर-रथ पर स्थित होनेवाला यह जीवात्मा (रथी) **जेत्वानि**=जेतव्य शत्रुओं को **जयतु**=जीतनेवाला बने।

भावार्थ—वनस्पति-विकार यह शरीर हमारा साथी हो। यह दृढ़ अङ्गोंवाला बने, ज्ञान की रश्मियों से सम्बद्ध हो। इसपर अधिष्ठित जीव जेतव्य शत्रुओं को जीतनेवाला बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शरीर-रथ

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥ २॥

१. 'यह शरीर-रथ क्या है'? इसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि इसमें **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=अन्नमयकोशरूप पृथिवी का **ओजः**=बल **परि उद्भृतम्**=सब प्रकार से धारण किया गया है। इस शरीर में **वनस्पतिभ्यः**=वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से **सहः**=शत्रुमर्षक बल **पर्याभृतम्**=चारों ओर-अङ्ग-प्रत्यङ्ग में भृत हुआ है। २. इस **अपाम् ओज्मानम्**=(आपो रेतो भूत्वा०) रेतःकणों के बलवाले **गोभिः परि आवृतम्**=ज्ञानरश्मियों से समन्तात् आच्छादित **इन्द्रस्य वज्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के आयुध के समान **रथम्**=इस शरीर-रथ को **हविषा यज**=दानपूर्वक अदन से युक्त कर। यज्ञशेष के सेवन के द्वारा इसे नीरोग व अमर बना—'यज्ञशेषममृतम्'।

भावार्थ—इस शरीर में हम मस्तिष्क व शरीर दोनों को ही सबल बनाएँ। वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से इसे रोगनिरोधक शक्ति से युक्त करें। यह रेतःकणों के बलवाला हो। ज्ञानरश्मियों से आवृत हो। रोगरूप शत्रुओं के लिए वज्र हो। यज्ञशेष के सेवन द्वारा हम इसे नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्रस्य गर्भः, वरुणस्य नाभिः

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथ प्रति हव्या गृभाय॥ ३॥

१. यह शरीर-रथ **इन्द्रस्य ओजः**=जितेन्द्रिय पुरुष का ओज है। इसमें **मरुताम् अनीकम्**=प्राणों का बल है, **मित्रस्य गर्भः**=प्राण का गर्भ है—गर्भवत् अन्तःस्थित व पालनीय है, **वरुणस्य नाभिः**=अपान का यह नाभि है—अपने में बाँधनेवाला। अपान के ठीक कार्य करने पर ही सब अङ्ग सुदृढ़ बने रहते हैं। २. **सः**=वह तू हे **देवरथ**=रोगरूप शत्रुओं की विजिगीषवाले शरीर-

रथ! **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम्**=हव्य देने की क्रिया का **जुषाणः**=सेवन करता हुआ **हव्या प्रतिगृभाय**=हव्य—यज्ञिय पवित्र पदार्थों को ही ग्रहण कर।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर शरीर-रथ को सबल व सुदृढ़ बनाए रक्खें। इसमें प्राणापान का बल ठीक बना रहे। हम यज्ञशील हों और यज्ञशेष के रूप में पवित्र पदार्थों का ही सेवन करें।

१२६. [षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

दुन्दुभिनाद से पृथिवी व द्युलोक का उच्छ्वसित हो उठना

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥ १॥

१. देश के स्वातन्त्र्य के रक्षण के लिए युद्ध करना पड़े तो यह अथर्वा युद्ध से पराङ्मुख न होकर युद्धवाद्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **दुन्दुभे**=हे रणभेरि! तू **पृथिवीम् उत् द्याम्**=पृथिवी व द्युलोक को **उपश्वासय**=अपने घोष से आपूरित कर दे। यह **विष्ठितम्**=विविधरूप में अवस्थित **जगत्**=प्राणिसमूह **पुरुत्रा**=बहुत प्रदेशों में **ते**=तेरे जयघोष का **वन्वताम्**=संभजन करे। २. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रु-विद्रावक सेनापति तथा **देवैः**=शत्रुविजिगीषावाले सैनिकों के **सजूः**=साथ **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **शत्रून् अपसेध**=शत्रुओं को भगा डाल (अपगमय)।

भावार्थ—युद्ध के समय भेरीनाद पृथिवी को गुँजा दे। अपने-अपने स्थान में स्थित हुए सब इस जयघोष को चाहें। सेनापति व सैनिकों के साथ यह भेरीनाद शत्रुओं को दूर भगानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

शत्रुभञ्जन

आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॒ न॒ आ धा॑ अ॒भि ष्ट॑न दुरि॒ता बाध॑मानः।
अप॑ सेध दुन्दुभे दुच्छुना॒मित॑ इन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒ड॑यस्व॥ २॥

१. हे **दुन्दुभे**=रणभेरि! **बलम्**=शत्रु-सैन्य को **आक्रन्दय**=विलापयुक्त कर दे। **नः**=हममें **ओजः आधाः**=बल की स्थापना कर। **दुरिता बाधमानः**=शत्रुकृत दुर्गतों व दुःखों को निवृत्त करती हुई—दूर करती हुई तू **अभिष्टन**=अभितः शत्रुहृदयभञ्जक परुष शब्द कर। २. हे दुन्दुभे! **इतः**=इस युद्धरङ्ग से **दुच्छुनाम्**=दुःखकारी शत्रुसेना को **अपसेध**=दूर भगा दे। **इन्द्रस्य**=शत्रुविद्रावक सेनापति की तू **मुष्टिः असि**=मुष्टिवत् शत्रुओं की भञ्जक है, अतः तू **वीडयस्व**=अत्यन्त दृढ़ हो—शत्रुओं पर पराक्रम प्रकट करनेवाली हो।

भावार्थ—दुन्दुभिनाद शत्रुओं में क्रन्दन मचा दे और हमारे सैन्य में ओजस्विता का आधान करे, शत्रुकृत दुर्गतियों को यह दूर करनेवाला हो। यह मुष्टिप्रहार की भाँति शत्रुभञ्जक बने।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीगर्भात्रिष्टुप्**॥

शत्रु-पराजय—स्वकीय विजय

प्रामूं ज॑या॒भी३॒मे ज॑यन्तु के॒तुमद्दु॑न्दु॒भिर्वा॑वदीतु।
समश्व॑पर्णाः पतन्तु नो॒ नरो॒ऽस्माक॒मिन्द्र॒ रथि॑नो॒ जय॑न्तु॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=बल के कार्यों को करनेवाले सेनापते! **अमूम्**=उस दूर दृश्यमान सेना को **जय**=जीत। **इमे**=ये हमारे सैनिक **अभिजयन्तु**=शत्रुओं के अभिमुख जाते हुए जय को प्राप्त हों। **केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु**=(प्रज्ञानवत् उच्चैस्तराम्) यह दुन्दुभिः खूब ऊँचे शब्द करे। **नः**

नरः=हमारे सेनानायक **अश्वपर्णाः**=(अश्वपतनाः) अश्वारूढ़ होते हुए **सम्पतन्तु**=युद्धभूमि में इधर-उधर जाएँ। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अस्माकं रथिनः**=हमारे रथारोही **जयन्तु**=विजयी हों।

भावार्थ—यह उच्चस्वर से बजाई जाती हुई रणभेरी शत्रुओं को परास्त करती है और हमें विजयी बनाती है। हमारे घुड़सवार शत्रु-सैन्य में इधर-उधर विचरें तथा हमारे रथी विजयी हों।

विशेष—अगले सूक्त में 'उचित जीवन-मार्ग पर चलने से मनुष्य शत्रुओं को भून डालता है', अतः 'भृगु' कहलाता है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' है।

१२७. [सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विद्रध, बलास, लोहित, विसल्पक' की चिकित्सा

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन॥ २॥

१. हे **वनस्पते**=चतुरंगुलपलाशवृक्ष! **ओषधे**=विसपर्क आदि व्याधियों के औषधभूत वटादिवृक्ष! **विद्रधस्य**=विदारणशील हृदयव्रण के—चेतना को नष्ट करनेवाले व्रणविशेष के **बलासस्य**=(बलम् अस्यति क्षिपति) कास-श्वास आदि के, **लोहितस्य**=रुधिरस्रावात्मक रोग के तथा **विसल्पकस्य**=(विविधं सर्पति नाडीमुखेन) शरीर में फैलनेवाले हड़फूटन के **पिशितं चन**=निदानभूत दुष्ट मांस को भी—दुष्ट त्वक् (चमड़ी) आदि को **मा उच्छिष**=शेष मत छोड़।

भावार्थ—वात, पित्त, कफ के दोषों के तारतम्य से 'त्वचा, रुधिर, मांस' आदि धातुओं को दूषित करके विसर्पक आदि रोग उत्पन्न होते हैं। उन्हें निदानसहित पलाश-वट आदि वनस्पतियों के प्रयोग से दूर करो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चीपुद्रु

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ। वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्॥ २॥

१. हे **बलास**=कास-श्वासादि रोग! **ते**=तेरे **यौ**=जो विसपर्क आदि विकार **कक्षे तिष्ठतः**=बाहूमूल में स्थिर होते हैं और **मुष्कौ अपश्रितौ**=जो अण्डाकृति गिल्टियाँ बुरी तरह से उत्पन्न हो गई हैं, मैं **तस्य**=उसके **भेषजं वेद**=औषध को जानता हूँ। **चीपुद्रुः**='चीपुद्रु' नामवाला द्रुमविशेष **अभिचक्षणम्**=(अभिचक्ष्य निवर्तकम्) व्याधिमूल का सम्यक् निवर्तक औषध है।

भावार्थ—बलास नामक रोग में विसपर्क आदि विकार बाहूमूल में उत्पन्न हो जाते हैं, गिल्टियाँ भी बुरी भाँति पीड़ित करने लगती हैं। 'चिपुद्रु' उस रोग का औषध है। वह चीपुद्रु 'चीवृ आदानसंवरणयोः' रोग के मूलभूत दोष का आदान करके रोग के लिए द्वार बन्द कर देता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

विरेचन द्वारा रोगविनाश

यो अङ्ग्यो यः कण्र्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि॥ ३॥

१. **यः विसल्पकः**=जो विसपर्क रोग **अङ्ग्यः**=हाथ-पाँव आदि अङ्गों में होनेवाला है, **यः**

कर्ण्यः=जो कानों में उत्पन्न हो जाता है, **यः अक्ष्योः**=जो आँखों में उत्पन्न हो जाता है, उस **विसल्पकम्**=बहुविध विसर्पक को **विवृहामः**=हम उखाड़ फेंकते हैं तथा **विद्रधम्**=विदरणस्वभाव व्रणविशेष को **हृदयामयम्**=हृदय के रोग को भी दूर करते हैं। २. **तम्**=उस **अज्ञातम्**=अनिर्ज्ञातस्वरूप **यक्ष्मम्**=रोग को **अधराञ्चम्**=(अधस्तात् अञ्चन्तम्) नीचे गति करते हुए को **परासुवामसि**=पराङ्मुख प्रेरित करते हैं। विरेचक ओषधियों के द्वारा उसे नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हाथ-पैर आदि अङ्गों में, कानों व आँखों में हो जानेवाले विसर्पक रोग को विदरणस्वभाव व्रणविशेष को, हृद्रोग को तथा अज्ञात यक्ष्मरोग को भी विरेचक औषधों के प्रयोग से नष्ट करते हैं।

विशेष—रोगों को दूर करके यह 'अङ्गिरा' बनता है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला। यह प्रभु-स्मरणपूर्वक राष्ट्र में उत्तम राज्यव्यवस्था करके कल्याण प्राप्त करता है। 'अङ्गिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२८. [अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**शकधूमः, सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'शकधूम' को राजा बनाना

शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत। भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति॥ १॥

१. **नक्षत्राणि**=(न क्षत्र त्र) क्षतों से अपना रक्षण न कर सकनेवाली प्रजाएँ **यत्**=जब **शकधूमम्**=शक्तिशाली बनकर शत्रुओं को कम्पित करनेवाले व्यक्ति को **राजानम् अकुर्वत**=राजा बनाती है, तब **अस्मै इदं राष्ट्रं प्रायच्छन्**=इसके लिए इस राष्ट्र को सौंप देती हैं, **भद्राहम् असात् इति**=इस कारण से सौंप देती हैं कि सब प्रजाओं के लिए अब दिन मंगलमय हों।

भावार्थ—प्रजा राजा को चुने। उस व्यक्ति को इस पद के लिए चुने जोकि 'शकधूम' हो। चुनने के पश्चात् उसे सर्वाधिकार सौंप दे, जिससे वह अपने रक्षणात्मक कार्य को सम्यक् रूप से कर सके। सीमित शक्तिवाले राजा के लिए यह सम्भव नहीं होता। राजा को सर्वाधिकार सौंप देने पर ही प्रजा सुखमय दिनों का अनुभव करती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**शकधूमः, सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भद्राहम्

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ २॥

१. **मध्यन्दिने**=मध्याह्न के समय **नः**=हमारा **भद्राहम्**=शोभन दिन हो। इसीप्रकार **नः**=हमारा **सायम्**=सूर्यास्त के समय भी **भद्राहम् अस्तु**=पुण्य-दिन हो। **अह्नां प्रातः**=पूर्वाह्णकाल में भी **नः**=हमारा **भद्राहम्**=पुण्य-दिन हो और इसीप्रकार **रात्री**=सारी रात **नः**=हमारे लिए **भद्राहम् अस्तु**=शुभ काल ही प्रमाणित हो।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर दिन-रात हमारा कल्याण-ही-कल्याण हो।

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**शकधूमः, सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'आधिदैविक आपत्ति' निराकरण

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि॥ ३॥

१. हे **शकधूम राजन्**=शक्ति के द्वारा शत्रुओं को कम्पित करनेवाले राजन्! **त्वम्**=आप

अहोरात्राभ्याम्=दिन और रात से **नक्षत्रेभ्यः**=अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्रों से तथा **सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भद्राहं कृधि**=पुण्याह (पुण्य-दिन) को करने की कृपा करें।

भावार्थ—राष्ट्रव्यवस्था के उत्तम होने पर 'दिन-रात, सूर्य-चन्द्र व नक्षत्र' सब प्रजा के लिए कल्याणकारक होते हैं, अर्थात् सुव्यवस्थित राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आतीं।

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**शकधूमः, सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शकधूम को प्रणाम

यो नो॑ भद्राहम॑करः सा॒यं नक्तु॒मथो॒ दिवा॑।
तस्मै॑ ते नक्षत्रराज॒ शक॑धूम॒ सदा॒ नम॑ः॥ ४॥

१. हे **शकधूम**=शक्ति के द्वारा शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **नक्षत्रराज**=अपना त्राण स्वयं न कर सकनेवाली प्रजाओं के शासक! **यः**=जो आप **नः**=हमारे लिए **सायं नक्तम् अथो दिवा**=सायं, रात्रि और दिन में **भद्राहम् अकरः**=कल्याण करते हैं **तस्मै ते**=उस आपके लिए हम **सदा नमः**=सदा नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजाओं का रक्षण करता है। प्रजा को चाहिए कि इस राजा का उचित आदर करे।

विशेष—सुरक्षित राष्ट्र में स्वस्थ वृत्ति से आगे बढ़नेवाला यह स्थिर चित्तवाला (अथर्वा) तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति के रसवाला (अंगिराः) 'अथर्वाङ्गिराः' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

१२९. [एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शांशप भग

भगे॑न मा शांश॒पेन॑ सा॒कमिन्द्रे॑ण मे॒दिना॑। कृ॒णोमि॑ भ॒गिन॑ं मा॑प द्रा॒न्त्वरा॑तयः॥ १॥

१. मैं **शांशपेन**=(शम् शप्—शयते स्पृशतिकर्मणः—नि० ३.१२) शान्ति के स्पर्श से युक्त **भगेन**=ऐश्वर्य से **मा**=मुझे तथा **मेदिना**=सबके प्रति स्नेहवाले **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **साकम्**=साथ **मा**=अपने-आपको **भगिनम्**=ऐश्वर्यशाली **कृणोमि**=करता हूँ। **अरातयः**=सब अदानवृत्तियाँ व शत्रु **अपद्रान्तु**=मुझसे दूर भाग जाएँ। २. ऐश्वर्य में यह आशंका बनी रहती है कि जीवन कहीं विषय-विलास की वृत्तिवाला न बन जाए, परन्तु यदि ऐश्वर्य के साथ प्रभु-स्मरण भी बना रहे तो ऐसी आशंका नहीं रह जाती, अतः मन्त्र में ऐश्वर्य के साथ प्रभु-स्मरण को जोड़ दिया गया है।

भावार्थ—सुव्यवस्थावाले राष्ट्र में मैं पुरुषार्थ से उस धन का अर्जन करूँ, जिसमें किसी प्रकार की अशान्ति नहीं है। इस धन के साथ प्रभु-स्मरणपूर्वक चलता हुआ मैं विलास में बह जाने से बचा रहता हूँ और धन को लोकहित के कार्यों में व्यय करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वृक्ष का अभिभव

येन॑ वृ॒क्षाँ अ॒भ्यभ॑वो॒ भगे॑न॒ वर्च॑सा॒ सह। तेन॑ मा भ॒गिन॑ं कृणव॑प द्रा॒न्त्वरा॑तयः॥ २॥

१. हे प्रभो! **येन भगेन**=जिस ऐश्वर्य से **वर्चसा सह**=वर्चस् के साथ—रोगनिरोधक शक्ति के साथ **वृक्षान् अभि अभवः**=(वृक्षते to cover) बुद्धि को आच्छादित कर लेनेवाली लोभवृत्तियों

को आप जीत लेते हो **तेन**=उस ऐश्वर्य से **मा भगिनं कृणु**=मुझे ऐश्वर्यशाली कीजिए। २. प्रभु हमें वह ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ, जिसमें कि हम विलास के शिकार न बनकर वर्चस्वी बनें रहें तथा जो ऐश्वर्य हमें लोभाभिभूत करके बुद्धिशून्य न कर दे। हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **अरातयः अपद्रान्तुः**=अदानवृत्तियाँ हमसे दूर ही रहें। हम धनों का सदा लोकहित—यज्ञों में विनियोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो। मैं वर्चस्वी बनूँ और लोभाभिभूत न होकर दानवृत्तिवाला बना रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्धा, पुनःसरः, वृक्षाहितः

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः। तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः॥ ३॥

१. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **तेन**=उस ऐश्वर्य से **भगिनं कृणु**=ऐश्वर्यवाला कीजिए **यः**=जोकि **अन्धः**=मेरा भोजन बनता है (अन्धः=अन्नम्), अर्थात् वह धन दीजिए जिससे मैं भोजन जुटा सकू। **यः**=जो **पुनःसरः**=फिर गतिवाला होता है, अर्थात् मेरी पेटी में बन्द न रहकर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है (सृ गतौ)। **यः भगः**=जो ऐश्वर्य **वृक्षेषु**=(व्रश्चू छेदने) वासनाओं का दहन करनेवाले व्यक्तियों में स्थापित होता है। २. हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **अरातयः अपद्रान्तु**=अदानवृत्तियाँ हमसे दूर रहें। हम इन धनों को सदा देनेवाले बनें और इसप्रकार 'वृक्ष' वासनाओं का छेदन करनेवाले बनें (व्रश्च छेदने, वृश्चति)। ये धन हमारे लिए वृक्ष (वृक्षते to cover) न बन जाएँ, ये हमारी बुद्धि पर पर्दा न डाल दें।

भावार्थ—प्रभु मुझे वह धन दें जिससे मैं परिवार के लिए अन्न जुटा सकूँ, लोकहित के कार्य कर सकूँ तथा वासनाओं का विच्छेद करनेवाला ही बना रहूँ।

१३०. [त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—१ **विराट्पुरस्ताद्बृहती**; २-३ **अनुष्टुप्**॥

कामवासना की उत्पत्ति कहाँ?

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥
असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥
यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ ३॥

१. **रथजिताम्**=रमण के साधनभूत पदार्थों का विजय (संग्रह) करनेवाले पुरुषों का तथा **राथजितेयीनाम्**=रमण-साधन पदार्थों को जीतनेवाले पुरुषों की **अप्सरसाम्**=इन सुन्दर स्त्रियों का अर्थ **अयं स्मरः**=यह 'काम' है। काम-वासना का सम्बन्ध इन रथजितों व राथजितेयी अप्सराओं से ही है। 'रमणसाधन पदार्थों का संग्रह व शारीरिक सौन्दर्य' काम-वासना की उत्पत्ति के साधन बनते हैं। २. हे **देवाः**=देवो! **स्मरम्**=इस 'काम' को **प्रहिणुत**=मुझसे दूर ही भेजो, **असौ माम् अनुशोचतु**=यह काम मेरा शोक करता रहे कि 'किस प्रकार उस पुरुष के हृदय में मेरा निवास था और किस प्रकार मुझे वहाँ से निकलना पड़ गया'। २. **असौ**=वह काम **मे स्मरतात्**=मुझे स्मरण करता रहे **इति**=बस। **मे प्रियः**=मेरा बड़ा प्रिय था, इति **स्मरतात्**=इसप्रकार मेरा स्मरण करके दुखी होता रहे। २. हे देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **यथा**=जिससे **असौ मम स्मरतात्**=वह काम मेरा स्मरण करे, **अहं कदाचन अमुष्य न**=मैं कभी उसका स्मरण न करूँ। मुझसे वियोग के कारण 'काम' दुःखी हो। 'काम' से पृथक् होकर मैं दुःखी न होऊँ।

भावार्थ—कामवासना की उत्पत्ति वहीं होती है, जहाँ रमणसाधन पदार्थों के संग्रह व सौन्दर्य की ओर झुकाव हो। देवों की कृपा से काम मुझसे दूर हो जाए। स्थान-भ्रंश के कारण 'काम' दुःखी हो। मैं कभी इस काम का स्मरण न करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

काम का उन्माद

उन्मा॑दयत मरुत॒ उद॑न्तरिक्ष मादय। अग्न॒ उन्मा॑दया॒ त्वम॒सौ माम॑नु॒ शोच॑तु॥ ४॥

१. हे **मरुतः**=वसन्तऋतु की सुन्दर वायुओ! आप इस 'काम' को **उन्मादयत**=उन्मत्त कर दो। हे **अन्तरिक्ष**=सम्पूर्ण वातावरण! **उत् मादय**=तू भी इस काम को उन्मत्त कर दे। हे **अग्ने**=शरीरस्थ अग्नितत्व (Excitement) **त्वम् उन्मादय**=तू भी इस काम को उन्मत्त कर, **असौ माम् अनुशोचतु**—वह मेरा शोक करे। २. वसन्त की वायुएँ, अन्तरिक्ष का सौन्दर्य व उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला अग्नितत्त्व मुझे कामातुर न बनाकर 'काम' को ही उन्मत्त बनानेवाले हों और इसप्रकार यह काम मेरे हृदय में स्थान न पाकर, वह मेरा शोक करता रहे।

भावार्थ—कामवासना की उत्पत्ति के लिए कारणभूत वस्तुएँ काम को ही उन्मत्त करें, न कि मुझे। मेरे लिए तो यह काम विलाप ही करता रहे 'कि मेरा निवास-स्थान छिन गया'।

१३१. [एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिर से पैर तक कामजनित पीड़ा

नि शी॑र्ष॒तो नि प॑त्त॒त आ॒ध्यो॒३॒ नि ति॑रामि ते।
देवा॒ः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ माम॑नु॒ शोच॑तु॥ १॥
अनु॑म॒तेऽ न्वि॒दं म॑न्यस्वाकू॒ते सम्इ॒दं नम॑ः।
देवा॒ः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ माम॑नु॒ शोच॑तु॥ २॥

१. काम से पीड़ित मनुष्य सिर से पैर तक एक विचित्र-सी व्यथा को अनुभव करता है। वह व्यथा ही यहाँ 'आधि' शब्द से कही गई है। 'काम' के विनाश के लिए कटिबद्ध व्यक्ति 'काम' को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे काम! **नि शीर्षतः नि पत्ततः**=सिर से लेकर पाँव तक **ते आध्यः**=तेरे कारण उत्पन्न इन मानस पीड़ाओं को **नितिरामि**=विनष्ट (destroy) व पराभूत करता हूँ। २. हे **देवाः**=देवो! **स्मरं प्रहिणुत**=इस काम को मुझसे दूर भेजो, **असौ माम् अनुशोचतु**=यह काम मेरा शोक करे। मैं 'काम' के कारण शोकातुर न होऊँ। काम ही निर्वासित होकर, स्थान छिन जाने से मेरा शोक करे कि 'किस प्रकार उसके हृदय में रहता था और अब निकाल दिया गया हूँ'। ३. हे **अनुमते**=शास्त्रानुकूल कार्यों को करने की बुद्धे! तू **इदम् अनुमन्यस्व**=इस 'काम-निर्वासन'- रूप मेरी अभिलाषा को अनुज्ञात कर। हे **आकूते**=दृढ़-संकल्प! तेरे लिए **इदं नमः सम्** (प्रापयामि)=इस नमस्कार व आदरभाव को प्राप्त कराता हूँ। तू भी इस कामनिर्वासन का अनुज्ञान कर—मुझे कामनिर्वासन के योग्य बना।

भावार्थ—हम कामवासना को दूर करके कामजनित पीड़ाओं को विनष्ट करें। इस कार्य में शास्त्रानुकूल कार्य करने की बुद्धि तथा दृढ़ संकल्प हमारे सहायक हों। 'देव भी इस 'काम' को हमसे दूर भेजें'—इसका भाव यह है कि हम सूर्य-चन्द्र, वायु आदि देवों के सम्पर्क में जितना अधिक अपने जीवन को बिताएँगे, अर्थात् जीवन जितना स्वाभाविक होगा, उतना ही हम वासना को जीत पाएँगे। कृत्रिम, विलासमय जीवन वासना को जाग्रत् करने में सहायक

होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

काम-विनाश व शक्ति-सम्पादन

यद्धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **त्रियोजनं धावसि**=तू तीन योजनपर्यन्त गतिवाला होता है, अथवा **आश्विनम्**=(अश्वेन प्रापणीयम्) घोड़े द्वारा प्राप्त करने योग्य **पञ्चयोजनम्**=पाँच योजन तक (धावसि) गतिवाला होता है, अर्थात् अश्वारूढ़ होकर पाँच योजन जाता है और **ततः**=उस त्रियोजन व पञ्चयोजन दूर स्थित देश से **त्वम्**=तू **पुनः आयसि**=फिर लौट भी आता है, तो **नः पुत्राणां पिता असः**=हम पुत्रों का पिता बन।

भावार्थ—यहाँ स्पष्ट संकेत है कि वासना को जीतकर हम इतने शक्तिशाली हों कि तीन योजन व घोड़े द्वारा पाँच योजन तक आ-जा सकें, तभी हमें गृहस्थ बनकर पिता बनने का अधिकार है।

१३२. [द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**१ त्रिपादनुष्टुप्; २, ४, ५ (महा) बृहती; ३ भुरिगनुष्टुप्**॥

देवा, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ १॥
यं विश्वेदेवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ २॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ३॥
यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ४॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ५॥

१. **यं स्मरम्**=जिस काम को **देवाः**=वासनाओं को जीतने की कामनावाले ज्ञानी लोग **असिञ्चन्**=अपने हृदय में सिक्त करते हैं, **ते**=तेरे लिए भी **तम्**=उस काम को **वरुणस्य धर्मणा**=पापों से निवृत्त करनेवाले प्रभु के धारण के द्वारा **तपामि**=उज्ज्वल बनाता हूँ। सामान्यतः 'काम' वासना का रूप ले-लेता है और यह वासनात्मक काम **आध्या सह**=(कामो गन्धर्वः, तस्याधयोऽप्सरसः—तै० ३.४.७.३) मानस पीड़ारूप अपनी पत्नी के साथ **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं में **शोशुचानम्**=अतिशयेन विरहाग्नि से गात्रों को सन्तप्त करनेवाला होता है। यही काम वरुण के धारण से—प्रभु-स्मरण से पवित्र व उज्ज्वल होकर सन्तान को जन्म देनेवाला होता है। (धर्माविरुद्धा कामोऽस्मि भूतेषु भरतर्षभ, प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः)। देवलोग इसी काम को अपने हृदय में सिक्त करते हैं। २. इसीप्रकार **यं स्मरम्**=जिस काम को **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब

पुरुष अपने में **असिञ्चत्**=सिक्त करते हैं, **यं स्मरम्**=जिस काम को **इन्द्राणी**=इन्द्रपत्नी—जितेन्द्रिय पुरुष की आत्मशक्ति **असञ्चत्**=अपने में सिक्त करती हैं और **यं स्मरम्**=जिस काम को **इन्द्राग्नी**=शत्रुविद्रावक व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष **असिञ्चताम्**=अपने में सिक्त करते हैं और **यं स्मरम्**=जिस काम को **मित्रावरुणौ**=प्राण-अपान की साधना करनेवाले पुरुष **असिञ्चताम्**=अपने में सिक्त करते हैं, तेरे लिए भी उस काम को प्रभु-स्मरण द्वारा उज्ज्वल बनाता हूँ।

भावार्थ—सामान्यः 'काम' वासना का रूप धारण करके मानस पीड़ा से मनुष्य को विरहाग्नि में सन्तप्त करनेवाला बनता है, परन्तु यदि हम 'देव, विश्वेदेवा, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी व मित्रावरुणौ' के समान काम को अपने हृदयों में सिक्त करेंगे तो यह काम प्रभु-स्मरण के द्वारा पवित्र बना रहेगा और सन्तति को जन्म देनेवाला होगा। कामवासना को जीतने का उपाय यही है कि हम ज्ञानी बनें (देवाः), देववृत्ति के बनने का यत्न करें (विश्वेदेवाः), आत्मिक शक्ति का वर्धन करें (इन्द्राणी), जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों (इन्द्राग्नी) और प्राणायाम द्वारा प्राणापान की साधना करें (मित्रावरुणौ)।

विशेष—'काम'-वासना को जीतनेवाला यह व्यक्ति सब अविद्याओं व पापों का विध्वंस करनेवाला 'अग-स्त्य' बनता है। यह पाप को पराजित करने के लिए ही मेखला धारण करता है—कटिबद्ध होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१३३. [त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

मेखला-बन्धन

य इ॒मां दे॒वो मेख॑लामाब॒बन्ध॒ यः सं॑न॒नाह॒ य उ॑ नो युयोज॑।
यस्य॑ दे॒वस्य॑ प्र॒शिषा॒ चरा॒मः स पा॒रमि॑च्छा॒त्स उ॑ नो॒ वि मु॑ञ्चात्॥ १॥

१. **यः**=जो **देवः**=शत्रुहनन-कुशल प्रभु **इमां मेखलां आबबन्ध**=इस मेखला को हमारे कटि-प्रदेश में बाँधते हैं और इस मेखला-बन्धन द्वारा **यः संननाह**=जो हमें कर्त्तव्यकर्मों को करने में सन्नद्ध करते हैं, और **उ**=निश्चय से **नः युयोज**=हमें अपने साथ युक्त करते हैं। ऐसा होने पर **यस्य देवस्य**=जिस सर्वान्तर्यामी देव के **प्रशिषा**=प्रशासन से **चरामः**=हम वर्त्तते हैं—कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, **सः**=वे प्रभु **पारम् इच्छात्**=हमारे प्रारिप्सित कर्म के पार तक हमें ले-चलना चाहें, **उ**=और **सः**=वे ही **नः**=हमें **विमुञ्चात्**=शत्रुओं से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ने वेद के द्वारा मेखला-बन्धन का निर्देश किया है। इसके द्वारा प्रभु हमें कर्त्तव्यकर्मों को करने में सन्नद्ध करते हैं और हमें उन कर्मों में सफलता प्राप्त कराते हैं। प्रभु के शासन में चलने पर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋषीणाम् आयुधम्

आहु॑तास्य॒भिहु॑त ऋ॒षीणा॒मस्या॑यु॒धम्। पूर्वी॑ व्र॒तस्य॑ प्राश्न॒ती वी॑र॒घ्नी भ॑व मेखले॥ २॥

१. हे **मेखले**=कटिबन्धभूत मेखले! **आहुता असि**=तू आहुतियों से संस्कृत हुई-हुई है। मेखला-बन्धन के समय किये जानेवाले यज्ञ में दी गई आहुतियों से तू पूजित हुई है, **अभिहुता**=सब ओर तेरी पूजा हुई है (अभिहु=to worship)। मेखला आदि प्रतीकों का उसी प्रकार आदर है जैसाकि देश के झण्डे का। तू **ऋषीणाम् आयुधम् असि**=वासनाओं को विनष्ट

करनेवाले का (ऋष् to kill) आयुध है। ब्रह्मचारी को वासनाओं का शिकार न होने के लिए प्रतिक्षण कटिबद्ध रखती है। २. प्रत्येक **व्रतस्य**=व्रत के **पूर्वा प्राश्नती**=प्रारम्भ में कटिप्रदेश को व्याप्त करती हुई हे **मेखले**=मेखले! तू **वीरघ्नी भव**=इन वीर पुरुषों को प्राप्त होनेवाली हो। (हन् गतौ)।

भावार्थ—यज्ञपूर्वक बाँधी गई यह मेखला वासना-विनाशक पुरुषों का आयुध बनती है। प्रत्येक व्रत के पहले हमें प्राप्त होती हुई यह हमें वीर बनाती है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

(मृत्योः ब्रह्मचारी) ब्रह्मणा, तपसा, श्रमेण, मेखलया

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन्भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ ३॥

१. आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता हुआ शिष्य को ब्रह्मचारी बनाता है (आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते), अतः वह कहता है कि—**यत्**=क्योंकि **अहम्**=मैं **मृत्योः**=आचार्य का (आचार्यो मृत्युः वरुणः सोम ओषधयः पयः) **ब्रह्मचारी अस्मि**=ब्रह्मचारी हूँ, अतः मैं भी **भूतात्**=प्राणीसमूह से **पुरुषम्**=एक पुरुष को **यमाय**=यम-नियम आदि के पालन के लिए **निर्याचत्**=माँगने का इच्छुक हूँ—मैं भी उसे ब्रह्मचारी बनाने का प्रयत्न करता हूँ। २. **तम्**=उसे **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान से, **तपसा**=तप से, **श्रमेण**=श्रम से तथा **एनम्**=इस पुरुष को **अनया मेखलया सिनामि**=इस मेखला से बद्ध करता हूँ।

भावार्थ—आचार्य को स्वयं ब्रह्मचारी रहकर एक अन्य व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनाने की कामना करनी है। उसमें 'ब्रह्म, तप व श्रम' को स्थापित करने का प्रयत्न करना है और उसे मेखला-बद्ध करके दृढ़निश्चयी बनाना है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**जगती**॥

मति, मेधा, तप, वीर्य

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च॥ ४॥

१. यह मेखला **श्रद्धायाः दुहिता**=श्रद्धा की दुहिता है, आस्तिक्य बुद्धि का प्रपूरण करनेवाली है, **तपसः अधिजाता**=तप से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। **भूतकृतां ऋषीणां स्वसा बभूव**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले ऋषियों की यह बहिन है। मेखला का धारण श्रद्धा से होता है, धारित हुई-हुई यह हमें तपस्वी बनाती है और उत्तम कर्मों को कराती हुई यह हमें उत्तम स्थिति में ले-जाती है। २. **मेखले**=मेखले! **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिए **मतिम्**=मनन-शक्ति को **आधेहि**=धारण कर, **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **अथो**=और **नः**=हमारे लिए **तपः**=तप को **च इन्द्रियम्**=और वीर्य को **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—मेखला का धारण श्रद्धा से होता है। यह हमें तपस्वी बनाती है और उत्तम कर्मों को कराती हुई उत्तम स्थिति में लाती है। यह हममें 'मति, तप व वीर्य' का स्थापन करती है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दीर्घायुत्वाय

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मा दीर्घायुत्वाय मेखले॥ ५॥

१. हे **मेखले**=मेखले! **यां त्वा**=जिस तुझे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **भूतकृता**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले **ऋषयः**=वासना-विनाशक (ऋष् to kill) तत्त्वद्रष्टा पुरुष **परिबेधिरे**=बाँधते हैं, **सा त्वम्**=वह तू **मां परिष्वजस्व**=मेरा आलिङ्गन कर, जिससे **दीर्घायुत्वाय**=मैं दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेखला धारण करनेवाला 'अपना पालन व पूरण करता है, यथार्थ कर्मों को करता है, वासनाओं का विनाश करता है, तत्त्वद्रष्टा बनता है, और इसप्रकार दीर्घजीवनवाला होता है'।

विशेष—यह दृढ़निश्चयी पुरुष वासनाओं का विनाश करके शक्तिशाली बनता है, अतः 'शुक्रः' (शुक्रं वीर्यम् अस्य अस्ति इति शुक्रः) कहलाता है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है।

१३४. [चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

वज्र का प्रयोजन

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

१. **अयं वज्रः**=यह पापों का वर्जन करनेवाला दण्ड **ऋतस्य तर्पयताम्**=सत्य-व्यवस्था का प्रीणन करे और **अस्य**=इस शत्रुभूत राजा के **राष्ट्रम् अवहन्तु**=राष्ट्र को सुदूर नष्ट करे, **जीवितम् अप** (हन्तु)=इसके जीवन को भी नष्ट करनेवाला हो। २. **इव**=जैसे **शचीपतिः**=शक्तियों का स्वामी सूर्य **वृत्रस्य**=आच्छादक मेघ के आवरण को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार यह वज्र दुष्ट पुरुषों की **ग्रीवाः शृणातु**=गर्दनों को काट डाले और **उष्णिहाः प्र शृणातु**=गुद्दी की नाड़ियों को भी काट दे।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनें। हमारा वज्र शत्रुभूत राजा के राष्ट्र व जीवन को नष्ट करनेवाला हो। यह वज्र ऋत का प्रीणन करे।

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिपदागायत्री**॥

अधर्मी का पतन

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्। वज्रेणावहतः शयाम्॥ २॥

१. यह शत्रु **वज्रेण अवहतः**=वज्र से चूर्णीकृत हुआ-हुआ **शयाम्**=सो जाए—मर जाए। यह **उत्तरेभ्यः**=उत्कृष्ट मनुष्यों से **अधरः अधरः**=नीचे-ही-नीचे रहकर **पृथिव्याः गूढः**=पृथिवी से संवृत हुआ-हुआ **मा उत्सृपत्**=कभी न उठे।

भावार्थ—अधर्मी कभी ऊपर न उठ सके।

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

राष्ट्र की हानि करनेवाले का विनाश

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय॥ ३॥

१. **यः**=जो शत्रु **जिनाति**=हानि पहुँचाता है, हे वज्र! **तम् अनु इच्छ**=तू उसका लक्ष्य करके उसे ढूँढ—उसपर प्रहार करने की इच्छा कर। **यः जिनाति**=जो हानि करता है **तम् इत् जहि**=तू उसे ही नष्ट कर। २. हे **वज्र**=दुष्टों के दण्ड के साधनभूत आयुध। **त्वम्**=तू **जिनतः**=इस हानि

करनेवाले के **सीमन्तम्**=(सीम्नोरन्तः) सिर के मध्यदेश को **अन्वञ्चम् अनुपातय**=अनुक्रम से विदीर्ण कर डाल।

भावार्थ—राष्ट्र की हानि करनेवाले का वज्र के द्वारा विनाश किया जाए।

१३५. [पञ्चत्रिंशिदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्नामि बलं कुर्वे

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे।
स्कन्धानमुष्य शातयन्वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

१. मैं **यत् अश्नामि**=जो खाता हूँ, उससे **बलं कुर्वे**=बल का सम्पादन करता हूँ। **इत्थम्**=इसप्रकार शक्ति के दृष्टिकोण से ही भोजन करता हुआ, अर्थात् स्वाद के लिए न खाता हुआ **वज्रम् आददे**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीर का आदान करता हूँ। २. अब **अमुष्य**=उस शत्रु के **स्कन्धान्**=कन्धों को मैं इसप्रकार **शातयन्**=नष्ट कर डालता हूँ, **इव**=जैसेकि **शचीपतिः**=शक्तियों का स्वामी सूर्य **वृत्रस्य**=आच्छादन करनेवाले मेघ के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

भावार्थ—भोजन में स्वाद को मापक न बनाकर मैं स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से खाता हूँ। इसप्रकार शक्ति का सम्पादन करके, वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाला होकर मैं शत्रु के कन्धों को काट डालता हूँ।

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं-पान-संगरण

यत्पिबामि सं पिबामि समुद्रइव संपिबः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम्॥ २॥
यद्गिरामि सं गिरामि समुद्रइव संगिरः।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम्॥ ३॥

१. **यत् पिबामि**=मैं जो जल पीता हूँ तो **संपिबामि**=शत्रु का निग्रह करके उसके रस को ही पी जाता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **समुद्रः**=समुद्र नदीमुख से सारे जल को लेकर **संपिबः**=सम्यक् पी जाता है। **वयम्**=हम भी **अमुष्य**=उस शत्रु के **प्राणान् संपाय**=प्राणापान आदि व्यापार को पीकर **अमुम्**=उस शत्रु को ही **संपिबामः**=पी जाते हैं। २. **यत् गिरामि**=जो कुछ मैं खाता हूँ तो **संगिरामि**=शत्रु को ही निगल जाता हूँ। **इव**=जैसेकि **समुद्रः**=समुद्र **संगिरः**=नदी-जल को निगीर्ण कर लेता है। **वयम्**=हम भी **अमुष्य**=उस शत्रु के **प्रणान् संगीर्य**=प्राणों को निगलकर **अमुं संगिरामः**=उस शत्रु को ही निगल जाते हैं।

भावार्थ—हम खाते-पीते इस दृष्टिकोण को न भूलें कि इस खान-पान से शक्ति का सम्पादन करके शत्रुओं को ही खा-पी जाना है, स्वाद का दृष्टिकोण तो हमें ही शत्रुओं का शिकार बना देगा।

विशेष—स्वस्थ शरीर के लिए वीतहव्य=पवित्र पदार्थों को खानेवाला ही होना चाहिए। यह 'वीतहव्य' शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ अपने केशों को भी सुदृढ़ बनाता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है।

१३६. [षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितली वनस्पतिः**॥ छन्दः—१ **अनुष्टुप्;** २ **द्विपदासाम्नीबृहती (एकावसाना)**॥

नितली

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥ १॥
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि॥ २॥

१. हे **ओषधे**=नितत्नी नामक ओषधे! तू **देवी**=रोगों को जीतने की कामनावाली है, **देव्यां पृथिव्याम् अधिजाता असि**=तू दिव्य गुणों से युक्त इस पृथिवी में उत्पन्न हुई है। हे **नितत्नि**=नितन्वाने=न्यक् प्रसरणशीले—नीचे की ओर फैलनेवाली ओषधे! **तम् त्वा**=उस तुझे **केशेभ्यः दृंहणाय**=केशों के दृढ़ीकरण के लिए **खनामसि**=खोदकर संग्रहीत करते हैं। २. हे ओषधे! तू **प्रत्नान्**=पुरातन केशों को **दृंह**=दृढ़ कर, **अजातान् जनय**=अनुत्पन्न केशों को उत्पन्न कर और **जातान् उ**=पैदा हुए-हुए को भी **वर्षीयसः कृधि**=प्रवृद्धतम व आयततम कर—दीर्घ बना।

भावार्थ—नितत्नी नामक ओषधि के द्वारा केशों से सम्बद्ध विकारों को दूर किया जा सकता है। यह पुराने बालों को दृढ़ करती है, अजातों को उत्पन्न करती है तथा उत्पन्न बालों को लम्बा करने का साधन बनती है। इसी से इसका नाम नितत्नी हुआ है।

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वभेषजी

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा॥ ३॥

१. हे कृशदृंहणकाम पुरुष! **यः ते केशः अवपद्यते**=जो तेरा बाल बीच में ही टूटकर भूमि पर गिर पड़ता है **च**=और **यः समूलः वृश्चते**=जो जड़सहित छिन्न हो जाता है। **इदम्**=(इदानीम्) अब **तम्**=उस सब केश को **विश्वभेषज्या**=केशाश्रित सब रोगसमूह की निवर्तिका **वीरुधा**=ओषधि से **अभिषिञ्चामि**=अभितः सिक्त करता हूँ। इस औषध-प्रयोग से केशाश्रित सब रोगसमूह निवृत्त हो जाता है।

भावार्थ—इस विश्वभेषजी (नितत्नी) के प्रयोग से केशों के समस्त रोग दूर हो जाते हैं।

१३७. [सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जमदग्नि वीतहव्य

यां जमदग्निरखनदुहित्रे केशवर्धनीम्। तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः॥ १॥

१. **यां केशनवर्धनीम्**=जिस केशों को बढ़ानेवाली ओषधि को **जमदग्निः**=(जमत् इति ज्वलतिकर्मसु—नि० १.१७, ज्वलन्तः अग्नयो यस्य) जिसके घर में यज्ञाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, वह जमदग्नि **दुहित्रे अखनत्**=दुहिता के लिए खोदता है, **ताम्**=उस ओषधि को **यः वीतहव्यः**=हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाला **असितस्य गृहेभ्यः**=असित के—कृष्ण केशों के ग्रहण के लिए **आभरत्**=लाता है (आहरत्)।

भावार्थ—बालों के प्रपूरण (दुहित्र=दुह प्रपूरणे) के लिए तथा काला रखने के लिए (असितस्य) यह केशवर्धनी ओषधि उपयोगी है। बालों के रोगों को दूर करने के लिए यज्ञशील होना (जमदग्नि) तथा भोजन में हव्य पदार्थों का ही प्रयोग (वीतहव्य) भी आवश्यक है।

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभीशुना व्यामेन

अभीशुना मेया आसन्व्यामेनानुमेयाः।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ २॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ ३॥

१. हे केशाभिवृद्धिकाम पुरुष! तेरे बाल जो पहले **अभीशुना**=अंगुलियों में **मेयाः आसन्**=चार अंगुल—इसप्रकार मापने योग्य थे। अब **व्यामेन**=प्रसारित हस्तद्वय परिमाण से **अनुमेयाः**=परिच्छेद्य (मापने योग्य) हो गये हैं। हे **ओषधे**=ओषधे! तू **मूलं दृंह**=केशों के मूल को दृढ़ कर, **अग्रम् आयच्छ**=इन केशों के अग्रभाग को आयामयुक्त कर तथा **मध्यं वियामय**=(यमय) मध्यभाग को विशेषरूप से स्थिर कर। २. हे पुरुष! **ते**=तेरे **शीर्ष्णः परि**=सिर के चारों ओर **असितः केशाः**=ये काले-काले बाल **नडाः इव वर्धन्ताम्**=तृणविशेषों की भाँति खूब बढ़ जाएँ।

भावार्थ—केशवर्धनी के प्रयोग से अंगुलियों से मापने योग्य बाल हाथों से मापने योग्य हो जाते हैं। उनका मूल, अग्र व मध्य—सब दृढ़ व आयत हो जाता है। ये काले-काले बाल नड़ों (तृणों) की भाँति बढ़ जाते हैं।

विशेष—अगले तीन सूक्तों का ऋषि 'अथर्वा' है—स्थिर वृत्तिवाला। यह अपने को स्वस्थ व शक्तिशाली बनाता है।

१३८. [अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'श्रेष्ठतमा अभिश्रुता' वीरुध्

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे। इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि॥ १॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **त्वम**=तू **वीरुधाम्**=सब लताओं में **श्रेष्ठतमा**=सर्वश्रेष्ठ **अभिश्रुता असि**=विख्यात है। तू **मे**=मेरे **इमम्**=इस **क्लीबम् पुरुषम्**=बलहीन पुरुष को **अद्य**=आज **ओपशिनं कृधि**=(ओपश A kind of head ornament) शिरोभूषणवाला कर दे। क्लीबता के कारण यह झुके हुए सिरवाला न होकर, सशक्त बनकर अलंकृत मस्तिष्कवाला हो।

भावार्थ—उत्तम ओषधि-सेवन से यह बलहीन पुरुष सबल बन जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओपशिनं कुरीरिणम्

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ∫ ॥ २॥

१. हे ओषधे! तू **क्लीबम्**=इस बलहीन पुरुष को **ओपशिनं कृधि**=शिरोभूषणवाला कर दे। यह सशक्त बनकर अलंकृत मस्तिष्कवाला हो, **अथो**=और इस पुरुष को **कुरीरिणं कृधि**=प्रशस्त

कर्मोंवाला कर दे (कुञ उच्च—उणा० ४.३३) शक्तिशाली बनकर यह क्रियाशील हो। २. **अथ**=अब **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला यह उत्तम वैद्य **ग्रावभ्याम्**=पाषाणों द्वारा **अस्य उभे आण्ड्यौ**=इसके दोनों अण्डकोशों के रोगों को **भिनत्तु**=विदीर्ण कर दे।

भावार्थ—ओषधि-प्रयोग से इस रोगी की क्लीबता दूर हो, यह अलंकृत मस्तिष्कवाला बने, क्रियाशील हो, इसके अण्डकोशों का रोग दूर हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

कुरीरं, कुम्बम्

क्लीबं क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि॥ ३॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है—**क्लीब**=हे निर्बलता के रोग! **त्वा क्लीबम् अकरम्**=तुझे निर्बल करता हूँ। **वध्रे**=हे शक्तिबन्धक रोग! **त्वा वध्रिम् अकरम्**=तुझे शक्तिहीन करता हूँ। हे **अरस**=नीरस (शुष्क) करनेवाले रोग! मैंने **त्वा अरसम् अकरम्**=तुझे नीरस कर दिया है। २. इसप्रकार रोग को नीरस करके **अस्य**=इस पुरुष के जीवन में **कुरीरम्**=क्रियाशीलता को **च**=तथा **शीर्षणि**=मस्तिष्क में **कुम्बम्**=शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाली सुगहन बाढ़ को **अधिनिदध्मसि**=हम स्थापित करते हैं।

भावार्थ—क्लीबता को दूर करके वैद्य रोगी को स्वस्थ कर इसे खूब क्रियाशील व ज्ञानवाला बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विकृत वीर्य-नाड़ियों का छेदन

ये ते नाड्यौ ∫ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः॥ ४॥

१. **ये**=जो **ते**=तेरी **नाड्यौ**=दो नाड़ियाँ **देवकृते**=(दिव क्रिडायाम्=कुञ हिंसायाम्) विषय-क्रीड़ा के कारण हिंसित-सी हो गई हैं, **ययोः वृष्ण्यम् तिष्ठति**=जिनमें वीर्य की स्थिति है, **ते**=तेरी **ते**=उन हिंसित नाड़ियों को **अधिमुष्कयोः**=अण्डकोशों के ऊपर **अमुष्याः**=उस स्वस्थ नाड़ी **शम्यया**=युगकीलक-तुल्य शस्त्र के द्वारा **भिनद्मि**=अलग करता हूँ। इन नाड़ियों के पार्थक्य के द्वारा विषय-उन्माद को दूर करता हूँ।

भावार्थ—यदि विषय-क्रीड़ा के कारण वीर्यवाहिनी नाड़ियाँ दूषित हो गई हैं, तो वैद्य उनका छेदन करके इस रोगी को विषय-उन्मादशून्य करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषय-उन्माद निरास

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे **स्त्रियः**=स्त्रियाँ **कशिपुने**=(कटं निर्मातुम्) चटाई बनाने के लिए **नडम्**=नरकट घास को—तृणविशेष को **अश्मना भिन्दन्ति**=पत्थर से विदीर्ण करती (कूटती) हैं, **एव**=इसीप्रकार **अधिमुष्कयोः**=अण्डकोशों के ऊपर **ते शेपः**=तेरी जननेन्द्रिय को **अमुष्याः भिनद्मि**=उस स्वस्थ नाड़ी से अलग विदीर्ण करता हूँ। इसप्रकार विषयोन्माद को समाप्त करके वैद्य रुग्ण पुरुष को

स्वस्थ व सबल बनाने का यत्न करे।

१३९. [एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराड्जगती** ॥

सुभगंकरणी 'न्यस्तिका'

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम।

शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः। तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते॥ १॥

१. एक युवक विद्या आदि गुणों से अपने को इसप्रकार सुशोभित करे कि एक युवति उसके गुणों को सुनकर उसके प्रति प्रेमवाली हो। वह उसे ही जीवन-साथी के रूप में प्राप्त करने की कामनावाली हो। इसीप्रकार युवति के गुण युवक को प्रेमयुक्त करें। युवक कहता है **न्यस्तिका**=निश्चय से दीप्त होनेवाली (अस् दीप्तौ) अथवा अविद्यान्धकार को परे फेंकनेवाली (अस् क्षेपणे) विद्या का **रुरोहिथ**=मुझमें प्रादुर्भाव हुआ है। यह विद्या **मम सुभगंकरणी**=मेरा सौभाग्य बढ़ानेवाली है। २. हे विद्ये! **शतं तव प्रतानाः**=तेरे सैकड़ों प्रतान—फैलाव हैं, अर्थात् शतवर्षपर्यन्त (आजीवन) होनेवाले तेरे प्रतान हैं, तेरे **त्रयः त्रिंशत्**=तेतीस **नितानाः**=नियमित विस्तार हैं, तेतीस देव तेरे ज्ञान का विषय बनते हैं। हे युवति! **तया सहस्रपर्ण्या**=उस सहस्रों प्रकार से पालन करनेवाली विद्या से **ते हृदयं शोषयामि**=तेरे हृदय को शुष्क करता हूँ—अपने प्रति प्रेमाकुल करता हूँ।

भावार्थ—एक युवक अपने में विद्यादि गुणों का प्रादुर्भाव करके एक युवति को अपने प्रति प्रेममग्न करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर प्रेमाकुलता

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्य ∫म्।

अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ २॥

१. हे युवति! ते **हृदयम्**=तेरा हृदय **मयि शुष्यतु**=मेरे विषय में प्रेमान्वित होकर शुष्क हो जाए **अथो आस्यं शुष्यतु**=और मेरे वियोग में तेरा मुख भी शुष्कतावाला **अथो**=और **माम्**=मुझे भी तू **कामेन**=तेरे प्रति प्रेम से **निशुष्य**=शुष्क करके स्वयं भी **अथो**=अब **शुष्कास्या**=शुष्क मुखवाली होकर **चर**=विचर।

भावार्थ—विद्यादि गुणों से अलंकृत युवक व युवति एक-दूसरे के गुणश्रवण से प्रेमाकुलता अनुभव करें और एक-दूसरे को जीवन-साथी बनाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्योन्य हृदयाकर्षण

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद।

अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि॥ ३॥

१. हे **बभ्रु**=जीवन में हमारा भरण करनेवाली! **कल्याणि**=मंगलकारिणि विद्ये! तू **संवननी**=सम्यक् सेवनीय व हमें **समुष्पला**=(सं वस् पल गतौ रक्षणे च) उत्तम निवास की ओर ले-जानेवाली है। तू **संनुद**=हमें सम्यक् प्रेरित कर। २. **अमूं च मां च संनुद**=उस युवति को और मुझे एक-दूसरे के प्रति प्रेरित कर। **समानं हृदयं कृधि**=हमें समान हृदयवाला बना।

मेरा हृदय उस युवति का हृदय हो, उस युवति का हृदय मेरा हृदय हो।

भावार्थ—युवक व युवति विद्यादि गुणों से एक-दूसरे के हृदय को अपने प्रति आकृष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रेमजल के अभाव में शुष्कास्यता

यथोदकमपपुषोऽ पशुष्यत्यास्य ँ म्।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **उदकम् अपपुषः**=जल न पीनेवाले पुरुष का **आस्यम् अपशुष्यति**=मुख सूख जाता है, **एव**=इसीप्रकार हे युवति! तू **माम्**=मुझे अपने प्रति **कामेन निशुष्य**=दीप्त प्रेम से सुखाकर **अथो**=अब स्वयं भी मेरे प्रति प्रेम से **शुष्कास्या चर**=शुष्क मुखवाली होकर विचर।

भावार्थ—जैसे प्यासे को जल का ही ध्यान रहता है, इसीप्रकार ये युवक और युवति परस्पर एक-दूसरे की प्राप्ति की कामनावाले हों ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पवित्र प्रेम

यथा नकुलो विच्छिद्य सन्दधात्यहिं पुनः।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे नकुलः (न-कुला आदाने) कुत्सित कर्मों का आदान न करनेवाला व्यक्ति **अहिं विच्छिद्य**=(आहन्ति) विनाशक वासना को विच्छिन्न करके **पुनः संदधाति**=फिर अपना सम्यक् धारण करता है, एव उसी प्रकार हे **वीर्यावति**=प्रशस्त बलवाली युवति! तू **कामस्य विच्छिन्नं संधेहि**=काम के—प्रेमाकुलता के घाव को भरनेवाली हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करके मैं स्वस्थ हो जाऊँ। तेरे प्रति मेरा प्रेम वासनात्मक न होकर पवित्र हो।

भावार्थ—एक युवक का युवति के प्रति पवित्र प्रेम उसका धारण करनेवाला बनता है।

१४०. [चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः**॥ छन्दः—**उरोबृहती**॥

दन्तौ न कि व्याघ्रौ

यौ व्याघ्रावव रूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः॥ १॥

१. **यौ**=जो दाँत **व्याघ्रौ**=भेड़िये के समान **अवरूढौ**=उत्पन्न हुए-हुए **पितरं मातरं च जिघत्सतः**=पिता व माता को खाना चाहते हैं, अर्थात् मांसाहार में प्रवृत्त होते हैं, हे **जातवेदः**=(जाते-जाते विद्यते) सर्वव्यापक **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! प्रभो! **तौ दन्तौ**=हमारे उन दाँतों को **शिवौ कृणु**=कल्याणकर कीजिए, उनमें मांसाहार की प्रवृत्ति ही न हो। २. वस्तुतः मांसाहार से स्वार्थ की भावना बढ़ती है और गतसूक्त में वर्णित युवक-युवति का परस्पर पवित्र प्रेम होना सम्भव नहीं रहता। पवित्र प्रेम के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी ऊपर-नीचे की दन्तपंक्तियाँ मांसाहार से दूर ही रहें। ये व्याघ्र न बन जाएँ। मांसाहार से दूर रहने में ही कल्याण है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः, दन्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्**॥

व्रीहि, यव, माष, तिल

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ २॥

१. हे दन्तपंक्तियो! **व्रीहिम् अत्तम्**=चावल खाओ, **यवम् अत्तम्**=जौ खाओ, **अथो**=और **माषम्**=उड़द **अथो**=तथा **तिलम्**=तिल खाओ। हे **दन्तौ**=दन्तपंक्तियो! **एषः**=यह ही **वाम्**=आपका **भागः**=भाग **रत्नधेयाय**=शरीर में 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा व वीर्य' रूप सात रत्नों के धारण के लिए **निहितः**=स्थापित किया गया है। २. हे दाँतो! आप **पितरं मातरं च**=पिता और माता को **मा हिंसिष्टम्**=हिंसित मत करो। जहाँ मातृत्व व पितृत्व का सम्भव है, वह वस्तु तुम्हारा भोजन न बने, अर्थात् तुम मांसाहार से सर्वथा दूर रहो।

भावार्थ—हे दाँतो! तुम्हारा भोजन 'चावल, जौ, उड़द व तिल' है। तुम्हें मांसाहार से दूर रहना है। इसी से शरीर में रस-रुधिर आदि रत्नों का स्थापन होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः**॥ छन्दः—**आस्तारपंक्तिः**॥

'स्योनौ सयुजौ' दन्तौ

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ ३॥

१. हे **दन्तौ**=दोनों दन्तपंक्तियो! आप **उपहूतौ**=(समीपं आहूतौ) एक-दूसरे के समीप पुकारे जाओ, **सयुजौ**=(समानं युञ्जानौ) मिलकर कार्य करनेवाले होओ। **स्योनौ**=सुख देनेवाले व **सुमंगलौ**=उत्तम मंगल के हेतु बनो। २. **वाम्**=आपका **घोरम्**=मांसाहाररूप घोरकर्म **तन्वः अन्यत्र**=हमारे शरीर से अन्यत्र ही **परैतु**=सुदूर स्थान में चला जाए। हे **दन्तौ**=दाँतो! तुम **पितरं मातरं च मा हिंसिष्टम्**=पिता व माता को हिंसित मत करो, अर्थात् किसी भी प्राणी का मांस मत खाओं।

भावार्थ—हमारे दाँत मिलकर मङ्गल कार्य करनेवाले हों। ये मांसाहार से दूर ही रहें। मांसाहाररूप घोर कर्म हमारे शरीर से दूर ही रहे।

विशेष—मांसाहार से दूर रहता हुआ, सबके प्रति प्रेमवाला यह व्यक्ति 'विश्वामित्र' कहलाता है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। इस विश्वामित्र का भोजन 'गोदुग्ध' व 'यव' हैं। इन्हीं का अगले सूक्तों में उल्लेख है।

१४१. [एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गोदुग्ध सेवन

वायुरेनाः समाकरत्त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद्रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु॥ १॥

१. **वायुः**=वायु **एनाः**=इन हमारी गौओं को **समाकरत्**=संघशः अपने में प्राप्त कराए, अर्थात् ये गौएँ खुली वायु में भ्रमण (चारागाहों में चरने) के लिए जाएँ—'वायुर्येषां सहचारं जुजोष', **त्वष्टा**=पशु के रूप को बनानेवाला यह सूर्य **पोषाय**=अभिवृद्धि के लिए इन गौओं को **ध्रियताम्**=धारण करे। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली परमेश्वर **आभ्यः**=इनके रक्षण के लिए **अधिब्रवत्**=आधिक्येन उपदेश

करता है। वेद में गोपालन का स्थान-स्थान पर उपदेश किया गया है। **रुद्रः**=रोगों का चिकित्सक **भूम्ने**=इनके बाहुल्य के लिए **चिकित्सतु**=इनकी व्याधियों का प्रतीकार करे।

भावार्थ—हमारी गौएँ खुली वायु में चारागाहों में चरने के लिए जाएँ। सूर्य अपनी किरणों द्वारा इनमें प्राणशक्ति का धारण करे। प्रभु (राजा) इनके दुग्ध के सेवन के लिए हमें उपदेश दे। रुद्र (पशुचिकित्सक) इनके रोगों को दूर करनेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गोवत्सों का कर्णवेध

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु॥ २॥

१. हे गोपाल! **लोहितेन**=लोहितवर्ण ताम्रविकार **स्वधितिना**=शस्त्र से **कर्णयोः**=वत्स-सम्बन्धी कानों में **मिथुनं कृधि**=स्त्री-पुंसात्मक चिह्न कर। **अश्विनौ**=गृहस्थ दम्पती (माता-पिता) **लक्ष्म अकर्ताम्**=इस चिह्न को करें। **तत्**=वह चिह्न **प्रजया बहु अस्तु**=पुत्र-पौत्रादि प्रजा से समृद्ध हो, अर्थात् कानों में किया गया वह चिह्न हमारे गोधन की समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—अपनी गौओं के बछड़ों के कानों में गृहस्थ दम्पती गोपालों द्वारा ताम्रशस्त्र से चिह्न कराएँ (कर्णवेध कराएँ)। यह चिह्न गोसन्तति की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देव-असुर-मनुष्य

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना॥ ३॥

१. सामान्य मनुष्य यदि 'मनुष्य' शब्द वाच्य हैं, तो उत्तम मनुष्य 'देव' तथा अधम 'असुर' कहलाते हैं। ये क्रमशः राजस्, सात्त्विक व तामस् होते हुए भी गौओं को रखते हैं और अपने गोवत्सों के कानों पर स्त्री-पुंसात्मक चिह्नों को करते हैं। **यथा**=जैसे **देवासुराः**=देव व असुर **चक्रुः**=करते हैं, **उत्**=और **यथा**=जैसे **मनुष्याः**=सामान्य मनुष्य भी करते हैं, **एव**=उसी प्रकार **अश्विना**=गृहस्थ दम्पती **लक्ष्म कृणुतम्**=गोवत्सों के कर्णों पर चिह्नों को करें, जिससे **सहस्रपोषाय**=सहस्रों की संख्या में उनका पोषण हो।

भावार्थ—हम 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' इनमें से किसी भी श्रेणी में हों, गौओं को रक्खें। उनके वत्सों के कर्णों पर लक्ष्म (चिह्न) बनाएँ, जिससे उनका सहस्रशः पोषण होता रहे।

१४२. [द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यव द्वारा रोगकृमि विनाश

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्॥ १॥

हे **यव**=जौ! तू **उच्छ्रयस्व**=ऊपर उठ—प्ररूढ़ होकर उन्नत हो **बहुः भव**=तू अनेकविध व बहुत हो, **स्वेन महसा**=अपने तेज से—रस-वीर्य से **विश्वा पात्राणि**=(पा रक्षणे, रक्षितव्यम् अस्मात् रक्षांसि) सब रोगकृमियों को **मृणीहि**=नष्ट कर डाल। **दिव्या अशनिः**=आकाश से गिरनेवाली विद्युत् **त्वा मा वधीत्**=तुझे हिंसित न करे।

भावार्थ—हमारे क्षेत्रों में जौ की खूब उत्पत्ति हो। यह यव अपनी प्राणशक्ति से (यवे ह प्राण अहितः) शरीरस्थ रोगकृमियों को नष्ट करे। हमारे यव-क्षेत्र विद्युत् गिरने से नष्ट न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्र के समान अक्षीण

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्रइवैध्यक्षितः॥ २॥

१. यह 'यव' देव हमारी प्रार्थना को सुनता है। **आशृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हुए **यवं देवम्**=इस 'यव' देव को **यत्र त्वा अच्छ आवदामसि**=जिस भूमि पर तुझे लक्ष्य करके प्रार्थना करते हैं कि **तत्**=वह तू **द्यौ इव उच्छ्रयस्व**=आकाश की भाँति उन्नत हो, समस्यावस्था में खूब फूल-फलवाला और फलावस्था में **समुद्रइव अक्षितः एधि**=समुद्र के समान क्षयरहित हो।

भावार्थ—ये देवयव—दिव्य गुणयुक्त जौ—रोगों को पराजित करनेवाले जौ-क्षेत्रों में खूब उन्नत हों—आकाश में खूब ऊपर उठें और इनका फल समुद्र के समान अक्षीण हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यव व अक्षीणता

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः॥ ३॥

१. हे यव! **ते उपसदः**=तेरे रक्षण के लिए तेरे समीप बैठनेवाले रक्षकलोग **अक्षिताः**=विनष्ट न हों। **राशयः अक्षिताः सन्तु**=हे यव! तेरे धन्यसमूह कभी क्षीण न हों, **पृणन्तः**=तेरे द्वारा घरों का पूरण करनेवाले **अक्षिताः सन्तु**=अक्षीण हों, **अत्तारः अक्षिताः सन्तु**=तेरा भोजन करनेवाले पुरुष भी अक्षीण हों।

भावार्थ—यव खानेवाले कभी क्षीण नहीं होते, अतः राष्ट्र में यव के उत्पादन पर बल दिया। राष्ट्रं यवः (तै० ३.९.७२) इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि यव का राष्ट्रोन्नति से विशेष सम्बन्ध है। सेनान्यं वा एतदोषधीनां यद् यवाः—ऐ० ८.१६ में यव को ओषधियों का मुखिया कहा है।

॥ इति षष्ठं काण्डम्॥